प्रवचन	मंत्री प० प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी म०
बुद्धि की तुला पर	सम्माननीय न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथजी मोदी
प्रकाशक	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल जोधपुर (राजस्थान)
प्राप्ति - स्थल	● सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल जिनवाणी कार्यालय जयपुर (राजस्थान)
	● भण्डारी सरदारचन्दजी जैन बुकसेलर्स, त्रिपोलिया बाजार, जोधपुर (राजस्थान)
मूल्य	● एक रुपया, पच्चीस नये पैसे
संस्करण	प्रथम नवम्बर १९६२
मुद्रक	नवयुग प्रेस, जोधपुर.

सम्यग्-ज्ञान रु सम्यग् दर्शन,
और अहा! सम्यक्-चारित्र।
सर्वोत्कृष्ट साधना का यह-
राजमार्ग है परम पवित्र॥
इस पथ के जो पथिक बने हैं-
उनको मेरा हृदय-चरित्र।
करूँ समर्पण, स्वीकृत कर वे,
मुझे सफलता दे प्रिय मित्र॥

- साधना के महामार्ग पर वीर पुरुष ही चल सकते हैं ।

—भगवान महावीर

- बिना साधना ईश्वर नहीं मिल सकता ।

—रामकृष्ण परमहंस

- साधना स्वेच्छा से स्वीकारी हुई शिस्त है ।

—स्वामी रामदास

- अनुभवी गुरु के मार्ग - दर्शन में जिसने सांगोपांग साधना की है उस भाग्यशाली को ही प्रखर वैराग्य युक्त सन्यास और अनुभवात्मक ब्रह्म ज्ञान का लाभ होता है ।

—ज्ञानेश्वर

अभिमत

प्रस्तुत पुस्तक में जैन - शास्त्रा प्रतिपादित साधना-मार्ग का सरल ढग से विवेचन किया गया है। जैन धर्म सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र को मुक्ति-मार्ग मानता है इस त्रिपुटी को रत्नत्रय कहा जाता है।

ज्ञान आत्मा का सहज स्वभाव है और उससे आत्मा ज्योतिर्मय है। ज्ञान के आलोक मे ही लौकिक और लोकोत्तर जगत् की वास्तविक जानकारी प्राप्त होती है, वस्तुत. ज्ञान के बिना सब शून्य है, अत ज्ञानाराधन साधको के लिए अत्यावश्यक है।

सम्यग्दर्शन साधना का मूल-आधार है। इसकी प्राप्ति से मानव कमल-जल की स्थिति वाला बनकर ससार मे रहते हुए भी उससे अलिप्त हो जाता है। आत्मा मे एक अभिनव आलोक उत्पन्न होता है, जिससे साधना पथ के तिमिर का नाश हो जाता है।

साधना की अन्तिम सीढी चारित्र है। चारित्र के बिना कोई भी कार्य सफल नही होता, अतएव चारित्र को मुक्ति की कुञ्जी भी कहते है।

स्वाध्याय प्रेमियो के लिए प्रस्तुत पुस्तक पठनीय और सग्रहणीय है।

गतवर्ष विजयनगर मे मत्री मुनि श्री पन्नालाल जी म० के सानिध्य मे जब मत्री श्री पुष्कर मुनि जी म० के सग देवेन्द्र मुनि से मिलन हुआ तो उन्होने अपने द्वारा सम्पादित साधना का राजमार्ग

की कॉपी देखने के लिए प्रस्तुत की। सैद्धान्तिक विषय पर सरल, सुगम, स्पष्ट एव मनोहर भाषा में चारुतम-प्रबन्ध देखकर मन को प्रसन्नता हुई। कुछ स्थलो मे जहाँ संशोधन अपेक्षित था, उसकी सूचना करते हुए मुनि श्री को यह ध्यान दिलाया कि इस प्रकार मौलिक विषयो पर लिखते रहे। तो शास्त्रो का परिशीलन, अध्ययन-वृद्धि, श्रुत-सेवा और लोक-मानस मे धर्म-जागरण का लाभ भी प्राप्त हो सकेगा।

मैं आशा करता हूँ, लेखक मुनि आगे भी आगम साहित्य का परिशीलन कर, द्रव्यानुयोग, कर्म-मीमासा आदि आवश्यक विषयो पर लिखे तो अधिक उपयोगी होगा। हमारा इतिहास भी प्रामाणिक खोज की आवश्यकता रखता है। यदि इस सम्बन्ध मे कुछ अधिक अन्वेषण और गवेषण किया जाय तो समाज की महती आवश्यकता पूर्ण हो सकती है।

मेरी शुभ कामना है कि मुनि श्री श्रुत-सेवा मे अधिकाधिक लाभ लेते रहे।

मैलाना
कार्तिक पूर्णिमा

— उपाध्याय हस्तीमल्लो मुनि:

बुद्धि की तुला पर

आज का युग विज्ञान का है. 'साइँस' (Science) और टेक्नोलोजी (Technology) का है। इस युग का मानव अपने बुद्धि बल के उत्कर्ष से भौतिक तथ्यो की खोज में सतत प्रयत्नशील है। फलस्वरूप उसने भौतिक जीवन के अनेक क्षेत्रो मे आश्चर्यजनक आविष्कार किये है, जिनके ब्योरे मे जाने का न यह समुचित अवसर ही है और न उपयुक्त स्थान ही। उसने अन्तरिक्ष में उडाने भरी है और इस दिशा मे उसे विपुल सफलता भी प्राप्त हुई है। वह चन्द्र लोक की यात्रा करने का भरसक प्रयत्न कर रहा है और उसका यह दावा है कि वह इस प्रयास मे भी सफलता प्राप्त करके ही रहेगा। इतना ही नहीं इस युग के मानव ने अपने बुद्धि बल से अनेक ऐसे अस्त्र शस्त्रों का निर्माण किया है कि जिनका दुरुपयोग समुचे विश्व का कुछ ही क्षणों में विनाश कर सकता है। बडे बडे राष्ट्र इस प्रतिस्पर्धा मे तल्लीन है कि उनकी विध्वंसकारी शक्तियाँ विरोधी पक्ष से कई गुना बढी चढी हो। काश, यह अरबो खरबो की धनराशि इस विश्व के अशिक्षित, निर्धन, बेकारी मे फँसे, निर्बल और अशक्त मानवो की सुख सुविधा की योजनाओ मे व्यय होती !

जो भी हो, यह बात असदिग्ध रूप से कही जा सकती है कि आज के मानव की भौतिक प्रगति मे और उसके सांस्कृतिक तथा आत्मिक क्षेत्र के जीवन की गतिविधि में भयावह अन्तर है। यदि मानव समाज को इस भूतल पर जीवित रहना है तो उसे इस अंतर को शीघ्रातिशीघ्र मिटाना होगा।

अतएव इस युग का यह एक महान् और ज्वलंत प्रश्न है कि आज का मानव अपनी भौतिक प्रगति की मदहोशी में अपनी आत्मा को न खो बैठे, मानव मानवता का पुजारी हो न कि दानवता और बर्बरता का।

इसी पाठ को पढ़ाने के लिए श्रद्धेय मंत्री पण्डित प्रवर श्री पुष्करमुनि जी महाराज की प्रस्तुत कृति 'साधना का राजमार्ग' एक महान् तथा शुभ प्रयास है। महाराज श्री जैनधर्म के एक विशिष्ट विचारक संतों में से हैं। इस पुस्तक में उन्होंने मानव जीवन के अनेक मर्मस्पर्शी प्रश्नों को सुलझाने का सुप्रयास किया है।

मानव जीवन का वास्तविक साध्य क्या है? उसके साधन क्या है, उन्हें किस प्रकार साधा जासकता है? सभी मानव सुख और शान्ति चाहते है—लेकिन बाह्य सुख और आन्तरिक सुख में कितना अन्तर है—एक क्षणिक तथा दुखान्त है तो दूसरा शाश्वत और सुखान्त है। इनका और इनसे सम्बन्धित अनेक दूसरे प्रश्नों का तात्विक विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में इतना सारगर्भित और आकर्षक ढंग से किया गया है उसकी अनुभूति तो पाठक को तभी हो सकती है जब वह इसे आद्योपांत पढ़ने के साथ ही चिन्तन और मनन करने का भी श्रम करें।

मैं मानता हूँ महाराज श्री का अध्ययन विशाल और विस्तृत है जिसका प्रतिबिम्ब प्रत्येक प्रवचन में झलक रहा है। ये प्राञ्जल प्रवचन प्रधानतः जैनागमों के आधार पर आधारित हैं जिनका उल्लेख सम्पादक मुनिजी ने टिप्पण में किया है। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि जैनधर्म सही अर्थों में मानवधर्म है। क्योंकि जैनधर्म की आधार शिला अनेकान्तवाद, आत्मवाद, कर्मवाद और अहिंसावाद है। जैनआगमों का यह अटल सिद्धान्त है कि प्रत्येक मानव कर्म करने में स्वतंत्र है

और अपने पुरुषार्थ से, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र के आचरण से वह अपने आपको नर से नारायण बना सकता है आत्मा से परमात्मा बना सकता है। मानव समानता की कितनी स्फूर्तिदायक प्रेरणा है यह, जिसमें ऊँच - नीच, गरीबी और अमीरी, का कोई भेद भाव नहीं है।

अतएव मेरी मान्यता है और मेरा अनुरोध भी–कि आज का मानव और विशेष रूप से हमारा नवयुवक समाज-प्रस्तुत रचना को ध्यानपूर्वक हृदयगम करे और फिर हममें उसी के अनुरूप आचरण करने की क्षमता व सुबुद्धि प्रादुर्भूत हो तो हमारा जीवन निस्सदेह स्वार्थ, द्वेष और शोषण के अंधियारे से ऊपर उठकर परोपकार, सौन्दर्य और विश्व बन्धुत्व के पुनीत प्रकाश में जाज्वल्यमान हो सकता है—हम स्वयं भी सुखी और अपने सहजीवियों को भी सुखी बना सकते है।

इन्द्रनाथ मोदी
न्यायमूर्ति राजस्थान हाईकोर्ट,
जोधपुर.

मोदी निवास,
५ नवम्बर १९६२

चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी महड्ढिओ
सन्ती सन्ति करे लोए
पत्तो गइमणुत्तरं

× × ×

जो अपने को पहचान सके
मैं उसको ही कहता महान
विज्ञान तुम्हारे मिथ्या हैं
सच्चा है केवल आत्मज्ञान.

× × ×

पशु बल कितना भी भीषण हो
किन्तु अन्त में होगी हार
देव, तुम्हारे सौम्य - भाव से
जग सीखेगा प्रेमाचार.

आप क्या पढ़ रहे हैं ?

अध्यात्म साधना मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र[1] इन तीनो का गौरव पूर्ण स्थान है। दृष्टि की विशुद्धि से ही ज्ञान विशुद्ध होता है[2] और ज्ञान की विशुद्धि से ही चारित्र निर्मल होता है[3] अत सन्त सस्कृति के प्राण-प्रतिष्ठापक भगवान् श्री महावीर ने साधना के कठोर कटकाकीर्ण महामार्ग पर बढने के पूर्व दृष्टि-विशुद्धि की प्रबल प्रेरणा प्रदान की[4]। साधना की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का प्रथम स्थान है, सम्यग्ज्ञान का द्वितीय और सम्यक् चारित्र का तृतीय है।[5]

सम्यग्दर्शन :

आत्मा को आत्म विस्मृति के गहन अन्धकार से निकालकर आत्म-भाव के आलोक से आलोकित करने वाली विवेक युक्त दृष्टि ही True Faith सम्यग्दर्शन है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो आत्म

---

१ तिविहे सम्मे पण्णत्ते, तजहा – णाण सम्मे, दसण सम्मे,
चारित्त सम्मे — स्थानाङ्ग–३।४।११४

२ नादसणिस्स नाण — उत्तरा २८।३०

३ नाणेण विना न हुँति चरण गुणा — उत्त।२८।३०

४ जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदसिणो।
असुद्ध तेसि परक्कत, सफल होई सव्वसो ॥
सूत्रकृताङ्ग अ ८।गा २२

५ सम्मद्दसण पढम, सम्म नाण विइज्जिय।
तइय च सम्मचारित, एगभूयमिम तिग ॥२॥
— महानिशीथ

विकास की दृष्टि से किया गया जीव, अजीव पुण्य, पाप आश्रव सम्वर निर्जरा बन्ध और मोक्ष आदि तत्त्वों[1] का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है[2]। श्रद्धा जीवन का सम्बल है। व्यावहारिक दृष्टि से "जिन" की वाणी मे, "जिन" के उपदेश मे जिसको दृढ निष्ठा है[3], वही सम्यग्दर्शी है।

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।[4] यदि मूल में भूल है, सम्यग्दर्शन का अभाव है, तो सभी क्रियाए ससार का क्षय नही कर अभिवृद्धि करती है[5] सम्यग्दर्शी पाप का अनुबन्धन नही करता[6]। "जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वह कर्म से बद्ध नही होता और जो सम्यग्दर्शन विहीन है वही ससार मे परिभ्रमण करता है[7]। चारित्र से भ्रष्ट व्यक्ति का निर्वाण सभव है, पर सम्यग्दर्शन से चलित आत्मा का निर्वाण असभव है[8]।

---

[1] स्थानांग सूत्र, स्था ९ सूत्र,

[2] (क) तहियाण तु भावाण, सब्भावे उवएसण ।
भावेण सद्दहन्तस्स, सम्मत्त त वियाहिय ॥ उत्त २८।१५
(ख) तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम् — तत्वार्थ० १।२

[3] तमेव सच्च नीसक
ज जिणेहि पवेइय — आचा ५, १६३, उ. ५
णिग्गथे पावयणे अट्ठे, अय परमट्ठे, सेसे अणट्ठे — भगवती २।५

[4] दसण मूलो धम्मो — दर्शन पाहुड

[5] नत्थि चरित्त सम्मत विहूण — उत्त २८।२९

[6] सम्मत्त दसी न करेइ पाव — आचाराग १।३।२

[7] सम्यक्दर्शन-सम्पन्न, कर्मभिर्न निबद्धयते ।
दर्शनेन विहीनस्तु, ससार प्रतिपद्यते ॥ — मनुसंहिता—६।७४

[8] दसणभट्ठा भट्ठा दसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाण ।
सिज्झति चरियभट्ठा, दसणभट्ठा ण सिज्झति ॥ — षट्प्राभृत

आध्यात्मिक क्षेत्र मे सम्यग्दर्शन की बड़ी महिमा गाई गई है। ज्ञातृधर्म कथा मे इसे "रत्न" की उपाधि प्रदान की गई है, जिस साधक को इस "चिन्तामणि" दिव्य रत्न की समुपलब्धि हो जाती है वह भंगी भी देव है। तीर्थंकरों ने उसे देव माना है। राख से आच्छादित आग का तेज तिमिर नहीं बनता, वह ज्योतिपुञ्ज ही रहता है।[1]

सम्यग्दर्शी साधक आत्म अभ्युदय के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता है कभी भी परिश्रान्ति का अनुभव नहीं करता। वह यथार्थ द्रष्टा होता है। उसके अन्तर्मानस में सत्य की जगमगाती ज्योति निरन्तर जलती रहती है। वह देवगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु बन्ध नहीं करता[2] वह अवर्णनीय और अचिन्त्य आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करता है। एक आचार्य के शब्दो में सम्यक् दर्शन यथार्थ मे बहुत सूक्ष्म है और वह वाणी से परे है।[3]

सम्यक्त्व, सच्चाई, हकीकत, रास्ती, ट्रुथ, ऋत, समत्व, योग, श्रद्धा आदि शब्दो को सम्यग्दर्शन के पर्यायवाची या समानार्थी कह सकते हैं। प्राय. सभी दर्शनो ने, विचारकों ने सम्यग्दर्शन को अपनी दृष्टि से महत्त्व प्रदान किया है और उसे मुक्ति का मुख्य कारण माना है। समन्वयदृष्टि से चिन्तन करने पर सूर्य के उजाले की भाँति स्पष्ट परिज्ञात होता है कि भाषा मे अन्तर होने पर भी भाव एक ही है।

गीता ने "योग"[4] को सम्यग्दर्शन कहा है तो न्यायदर्शन[5] ने

---

[1] सम्यग्-दर्शन सम्पन्न-मपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म-गुढाङ्गारान्तरौजसम्॥ रत्न. श्रा. २८

[2] भगवती ३०।१

[3] सम्यक्त्व वस्तुत. सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्"

[4] समत्व योग उच्यते — गीता-२।४८

[5] न्याय सूत्र ४।१।३०६

तत्वज्ञान को सांख्य दर्शन[1] ने भेद ज्ञान को सम्यग्दर्शन माना है तो योग दर्शन[2] ने विवेक ख्याति को। बौद्ध दर्शन ने क्षण भंगुरता और चार आर्य सत्यो का ज्ञान सम्यग्दर्शन स्वीकारा है तो वेदो ने ऋत को।

सम्यग्दर्शन जीवन की श्रेष्ठ कला है। आत्मा की अमर अभिव्यक्ति है। एतदर्थ ही जैन सस्कृति के इस मौलिक तत्त्व को सभी विचारको ने अपने यहाँ स्थान दिया।

सम्यग्ज्ञान :

ज्ञान आत्मा का निज गुण है। ज्ञान के अभाव में आत्मा की कल्पना करना सभव नही। न्याय वैशेषिक दर्शन की तरह जैन दर्शन ने ज्ञान को आगन्तुक नही माना, किन्तु आत्मा का मौलिक-गुण माना है। ज्ञान आत्मा ही है एतदर्थ वह आत्मा से अभिन्न है[3]। जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वह आत्मा है[4]। व्यवहार नय से ज्ञान और आत्मा मे भेद है किन्तु निश्चयनय से आत्मा और ज्ञान मे कोई भेद नही है।[5] अनन्त ज्ञानशक्ति आत्मा में स्वभाव से ही विद्यमान है किन्तु ज्ञानावरण कर्म से आच्छादित होने के कारण उसका पूर्ण प्रकाश प्रकट नही होने पारहा है। ज्यो ज्यो आवरण हटता जाता है त्यो-त्यो ज्ञान प्रकाश भी बढ़ता जाता है, पर ऐसी आत्मा की अवस्था कभी नही होती कि उसमे किसी न किसी प्रकार का ज्ञान न हो[6] किन्तु सम्यग्दर्शन सहचरित न होने से वह ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

---

१ सांख्य कारिका ६४।३

२ योगदर्शन २।१३

३ णाणे पुण णियम आया — भगवती १२।१०

४ जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया आचारांग–५।५।१६६

५ समयसार–६।७ — आचार्य कुन्द

६ सव्वजीवाणपि य ण अक्खरस्स अणतभागो निच्चुग्घाडियो— नन्दी सूत्र ४३

आत्मा क्या है ? कर्म क्या है ? बन्धन क्या है ? कर्म आत्मा पर क्यो चिपकते है ? आदि विषयो का यथार्थ रूप से परिज्ञान ही True Knowledge सम्यग्ज्ञान है और यथार्थ बोध मिथ्याज्ञान है[1]। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो " प्रत्येक द्रव्य का उनकी अनन्तगुण पर्यायो सहित और अपने विशुद्ध आत्म स्वरूप का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है[2]।

ज्ञान तृतीय नेत्र के समान है जिसके अभाव में जीव शिव नही बन सकता, आत्मा भव बन्धनो से विमुक्त नही हो सकता । महान् विचारक शेक्सपियर के शब्दों में "ज्ञान वह पख है जिससे हम स्वर्ग में उडते हैं" और कन्फ्यूशियस ने "ज्ञान को आनन्द प्रदाता" माना है। वस्तुत. सम्यग्ज्ञान ही सच्चे सुख का कारण है, जब तक सम्यग्ज्ञान नही होता तब तक विकारो का विनाश होकर विचारो का विकास नही होता ।

वैदिक दार्शनिकों ने भी सम्यग्ज्ञान को महत्त्व दिया है[3] और उसे "ब्रह्म विद्या" कहा है। "अध्यात्म विद्या ही समस्त विद्याओ की प्रतिष्ठा है[4], उन सब में प्रमुख है[5], उनको दीपक के समान आलोक

---

[1] द्रव्य सग्रह

[2] ज जह थक्कउ दव्वु जियत तह जाणइ जोजि
अप्पह केरउभावडउ णाणु मुणिज्जहि सोजि।
— परमात्म प्रकाश, २।२९

[3] "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
— मुण्डकोपनिषद्

[4] ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् — मुण्डक-१।१।१

[5] सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञान परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्रच सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृत तत. — मनुस्मृति, १२-८५

दिखाने वाली है[1], और उन्हे परिपूर्णता प्राप्त कराने वाली है। यही सर्वोत्कृष्ट धर्म है और ज्ञानो मे श्रेष्ठ ज्ञान है[2] इस एक का परिज्ञान करने पर सभी का परिज्ञान हो जाता है[3]। इस आत्मविद्या के द्वारा राग-द्वेष की प्रहानि की जाती है[4] और यही सर्वोत्तम राजविद्या है[5]। न्याय दर्शन मिथ्याज्ञान, मोह आदि को ससार का मूल मानता है[6] और साख्य दर्शन विपर्यय को[7]। बौद्ध दर्शन अविद्या रागद्वेष को ससार का प्रधान कारण स्वीकारता है[8]। जैन दृष्टि से साधना के क्षेत्र मे सम्यग्ज्ञान का वही महत्त्व है जैसा सम्यग्दर्शन का है। ज्ञान प्रकाशक है[9], प्रथम ज्ञान है, फिर चारित्र है[10]।

सम्यक् चारित्र :

आत्म स्वरूप में रमण करना और जिनेश्वर देवों के वचनों पर

---

[1] प्रदीप सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रय सर्व धर्माणा शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥
— कौटिलीय अर्थशास्त्र, १,२

[2] (क) "अय तु परमो धर्म यद्योगेनात्मदर्शनम्"
— याज्ञवल्क्य, १।१।८

(ख) आत्मज्ञानं पर ज्ञानम् — महाभारत शान्तिपर्व।

[3] यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत् ज्ञातव्यमवशिष्यते। — गीता-७।२

[4] आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात् सुखदुःखयोः।
ईक्षमाणस्तया तत्त्व हर्ष शोकौ व्युदस्यति। —शुक्रनीति १।१५२

[5] राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। — गीता ९।२

[6] न्याय सूत्र, ४।१-३-६

[7] सांख्य कारिका ६४।३

[8] बुद्ध वचन

[9] णाण पयासय — महानिशीथ=७

[10] पढम णाण तओ दया। — दशवै -४

पूर्ण आस्था रखते हुए अच्छी तरह उन्ही के अनुरूप आचरण करना (True conduct) सम्यक् चारित्र है।

ज्ञान नेत्र है, चारित्र चरण है पथ का अवलोकन तो किया पर चरण उस ओर नही बढे तो अभीप्सित लक्ष्य की प्राप्ति असभव है। स्विनॉकने लिखा है "बिना चारित्र के ज्ञान शीशे की 'आँख की तरह है सिर्फ दिखलाने के लिए और एक दम उपयोगिता रहित"। ज्ञान का फल विरक्ति है[1]। ज्ञान होने पर भी यदि विषयो में अनुरक्ति बनी रही तो वह वास्तविक ज्ञान नही है।

सम्यक् चारित्र-जैन साधना का प्राण है। विभावगत आत्मा को पुन शुद्ध स्वरूप मे अधिष्ठित करने के लिए सत्य के परिज्ञान के साथ जागरुक भाव से सक्रिय रहना आचार-आराधना है। चारित्र एक ऐसा चमकता हीरा है जो हर किसी पत्थर को घिस सकता है। जीवन का लक्ष्य सुख नही चारित्र है[2] "उत्तम व्यक्ति शब्दो से सुस्त और चारित्र से चुस्त होता है[3]। बौद्ध साहित्य मे सम्यक् चारित्र को ही सम्यक् व्यायाम कहा है।

समन्वय :

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र ये साधना के तीन अग है अन्य दर्शन केवल एक अग को ही प्रमुखता देते है किन्तु जैन दर्शन तीनो के समन्वय को। भगवान श्री महावीर ने चार प्रकार के पुरुष बतलाये है —

एक शीलसम्पन्न है, श्रुतसम्पन्न नही।
दूसरा श्रुतसम्पन्न है शीलसम्पन्न नही।

---

1 ज्ञानस्य फल विरति

2 वीचर,

3 कन्फ्यूशियस

तीसरा शील सम्पन्न है, और श्रुतसम्पन्न है।

चौथा न शील सम्पन्न है और न श्रुतसम्पन्न है।

प्रथम मोक्षमार्ग का देश आराधक है[1] दूसरा देश विराधक है[2] तीसरा सर्व आराधक है[3] और चौथा सर्व विराधक है[4]।

इस चतुर्भङ्ग मे भगवान् ने बताया कि कोरा शील कल्याण की एकांकी आराधना है। कोरा ज्ञान भी उसी प्रकार है। शील और ज्ञान दोनों ही नही है तो वह कल्याण की आराधना है ही नही। शील और ज्ञान दोनो की सगती है तो वह कल्याण की सर्वांगीण आराधना है[5]।

सम्यग्दर्शन की पूर्णता चतुर्थ गुणस्थान मे भी हो सकती है, यदि कदाचित् वहाँ न हो तो बारहवे गुणस्थान की प्राप्ति के पूर्व तो अवश्य हो ही जाती है। सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवे मे और सम्यक् चारित्र की पूर्णता चौदहवे गुणस्थान मे होती है। ये जब तीनो पूर्ण होते है तभी साध्य की सिद्धि होती है। विद्या और चारित्र दोनो का पूर्ण समन्वय ही मोक्ष है[6]।

प्रस्तुत उपक्रम का महत्त्व

प्रस्तुत पुस्तक मे प्रत्यग्र प्रतिभा के धनी परम श्रद्धेय मन्त्री पण्डित प्रवर सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि म० के पाण्डित्य पूर्ण प्रवचन है,

---

[1] भगवती ८।१०

[2] भगवती ८।१०

[3] भगवती ८।१०

[4] भगवती ८।१०

[5] भगवती ८।१०

[6] "आहसु विज्जा चरण पमोक्ख" सूत्रकृताङ्ग–१।१२।११

जो दिल को लुभाने वाले है, मनको मोहने वाले है। उगती उभरती पीढियो की मानसिक पूर्णता के लिए अनमोल रसायन है। जीवन की निधि है। वाल्ट हिटमेन ने अपनी एक पुस्तक के विषय मे कहा था कि "जो इस पुस्तक को छूता है वह एक मनुष्य का स्पर्श करता है" यह उक्ति प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध मे भी पूर्ण चरितार्थ होती है। इस पुस्तक मे भी आपको वही आनन्द अनुभव होगा, जो एक सन्मित्र से मिलकर होता है।

इस प्रवचनों में न बुद्धि के गोरखधन्धे हैं, न सूखे ज्ञान के अम्बार है किन्तु सरल सरस हृदय के उद्‌गार हैं स्पष्ट प्रतिपादन है, गभीर चिन्तन है मौलिक अध्ययन है। यह साफ सुथरी सीधी सडक है, इसपर विना भूले, विना भटके, और विना अटके चलिए कायर की भाँति थककर बैठिये नही, घबराइये नही किन्तु वीर की भाँति आगे बढिये, चरैवेति चरैवेति चले चलो, बढे चलो, क्योकि चलने वाला मधुरता को प्राप्त करता है[१]।

आभार और कृतज्ञता

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन की सुखान्त और शुभान्त कहानी है। इसका प्रारभ हुआ मरुधर धरा की राजधानी जोधपुर मे, और पूर्ण हुआ ब्यावर में। प्रस्तुतसम्पादन मे सम्पादन कला विशेषज्ञ व तेजस्वी और यशस्वी लेखक प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का सतत मार्ग दर्शन मुझे मिलता रहा है। पुस्तक मे सम्पादन का जो कुछ भी सौष्ठव है वह मेरा नही अपितु पण्डितजी का है। सौजन्यमूर्ति प० श्री हीरामुनिजी, साहित्य रत्न, शास्त्री श्री गणेशमुनिजी, व नवदीक्षित श्री चेतनमुनिजी का हार्दिक सहयोग भूलने जैसा नही है। प्रखर प्रतिभा सम्पन्न

---

१ "चरन्वै मधु विन्दति"

सुश्रावक इन्द्रनाथजी मोदी न्यायमूर्ति की सतत सेवा विस्मरण नहीं की जा सकती। समय समय पर उनके बहुमूल्य अनुभव, चिन्तन और प्रबल प्रेरणा मुझे मिलती रही है। प्रान्त में परमादरणीय उपाध्याय प्रवर श्रद्धेय श्री हस्तीमलजी म० के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि का आद्योपान्त अवलोकन कर अनमोल सुझाव व अभिमत प्रदान किया। आशा है ये प्रवचन बहुजन हिताय बहुजन सुखाय प्रमाणित होंगे।

इन्द्र - भवन
बाडो का चौक,
७ नवम्बर १९६२

देवेन्द्र मुनि

प्रज्ञापना

प्रवुद्ध पाठक वर्ग के कर कमलो में प्रस्तुत-प्रशस्त प्रकाशन प्रदान-करते हुए हृदय हर्ष मे हर्षित हो रहा है, मन-मयूर नाच रहा है और जीवन के करण करण में, अरणु-अरणु मे प्रफुल्लता अठखेलियाँ कर रही है।

परमश्रद्धेय मत्री पण्डित प्रवर श्री पुष्कर-मुनि जी महाराज को सम्पूर्ण जैन समाज वखूवी जानता है। वे आचार की उत्कृष्टता और विचारो की विराट्ता के कट्टर हिमायती हैं। जैन श्रमरण होने के नाते जैनागमो के मर्मज्ञ अनुसवाता तो हैं ही, साथ ही वैदिक तथा वौद्ध दर्शन के भी अच्छे ज्ञाता है। कुछ समम पूर्व प्रस्तुत सस्था की ओर मे आप श्री के प्रभापूर्ण प्रवचनो का एक मौलिक सग्रह "जिन्दगी की मुस्कान" के नाम से प्रकाशित हुआ था जिसकी भारत के प्रसिद्ध दैनिक साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक पत्र और पत्रिकाओ ने तथा प्रतिभा सम्पन्न मूर्धन्य मनीषियो ने मुक्त कण्ठ से प्रशसा की। यह लिखते हुए हमे अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि गुर्जर प्रातीय साहित्य सेवियो के सदाग्रत से उसका शानदार गुजराती सस्करण "लक्ष्मी पुस्तक भडार, गाधी मार्ग, अहमदावाद–१" ने प्रकाशित किया है।

प्रस्तुत साधना का राजमार्ग अध्यात्म प्रेमियो की प्रवल प्रेरणा का ही मूर्त रूप है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से पुस्तक वहुत ही सुन्दर और रोचक है। पुस्तक पढने से स्पष्ट हो जायगा कि मंत्री मुनि श्री का अध्ययन कितना विशाल है, चिन्तन कितना गहरा है। दार्शनिक विषय को सहज रसमय वनाने का उनका प्रयत्न वहुत ही अभिनन्दनीय है।

हम यहाँ प्रस्तुत पुस्तक के प्रधान सम्पादक देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री साहित्य रत्न का स्मरण करना अपना कर्तव्य समझते है, जो मंत्री मुनि श्री के सुयोग्य शिष्य है, तेजस्वी लेखक है और कुशल सम्पादक है जिनके कारण यह ग्रन्थ हमे सम्प्राप्त हुआ और साथ ही पण्डित शोभाचन्द जी भारिल्ल को विस्मृत नही कर सकते, जो हमारे समाज के वरिष्ठ सम्पादक और श्रेष्ठ लेखक है जिन्होने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार की और सम्पादन मे मुनि श्री को महत्त्वपूर्ण योग दिया।

इस अवसर पर सुप्रसिद्ध न्यायमूर्ति, जैन समाज शृगार श्री इन्द्रनाथजी मोदी के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते है जिन्होने शासकीय कार्य मे अत्यधिक व्यस्त होने के बावजूद भी पुस्तक प्रकाशन की सम्पूर्ण व्यवस्था की। पुस्तक का जो भी नयनाभिराम रूप बना वह आपके ही श्रम का फल है। उसका मूल्य, आभार या धन्यवाद कैसे अंकित किया जा सकता है।

जिन श्रेष्ठीपुत्रो ने आर्थिक सहायता प्रदान कर हमे अनुगृहीत किया उनको धन्यवाद देने के साथ ग्रन्थ के प्रकाशन मे विलम्ब होने के कारण उन्हे जो प्रतीक्षा करनी पडी और असुविधा हुई उसके लिये हम हृदय से क्षमा प्रार्थी है।

आशकरण भण्डारी
संयुक्त मंत्री
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल,
जोधपुर.

५-११-६२

साधना का राजमार्ग

मंत्री पुष्कर मुनि

कहाँ क्या है ?

सम्यग्दर्शन एक अनुचिन्तन

१ साधना का ध्येय — १

+ लक्ष्य बिन्दु सुख — १
+ सुख और आत्मा — २
+ ज्ञान और आनन्द — २
+ सुख की अभिव्यक्ति — ३
+ भौतिक और आध्यात्मिक सुख — ४

२. मुक्ति मार्ग — ८

+ मुक्ति — ८
+ ज्ञान और आचार — ९
+ ज्ञान क्रिया का समन्वय — ११
+ सम्यग्दर्शन का महत्त्व — १२
+ साधना का प्रथम सोपान — १२
+ तात्त्विक दृष्टि का उन्मेष — १३
+ साधना की नींव — १५
+ दर्शन और ज्ञान — १६
+ दर्शन और चारित्र — १६
+ सम्यग्दर्शन का चमत्कार — १८

३. साधना का सर्वोच्च वरदान — २०

+ दृष्टि विविधता — २०
+ तात्त्विकी दृष्टि — २१

+ अपूर्व दर्शन ७२
सम्यग्दृष्टि की अलिप्तता २३
+ दर्शन की कसौटी २४
४. जिन्दगी की बदलती हुई तस्वीरें २५
+ उत्पत्ति क्रम २५
+ त्रिविध आत्माएँ २५
+ बहिरात्मा २६
+ प्रकाश की ओर २७
+ यथाप्रवृत्तिकरण २८
+ अपूर्वकरण ३०
+ अनिवृत्तिकरण ३१
+ करण-स्पष्टीकरण ३२
+ उपनय ३३
+ अन्तरात्मा ३३
+ परमात्मा ३४
५. जीवन दृष्टि के तत्त्व ३५
लक्षण ३५
+ प्रशम ३६
+ संवेग ३६
+ निर्वेद ३७
+ अनुकम्पा ४१
+ आस्तिक्य ४६
+ नास्तिकता का आधार ४६
६ दर्शनाचार ४९
+ पास ही रे हीरे की खान ४९
+ आठ अंग ५१
+ निःशंकता ५२

* निष्काक्षता ५५
* निर्विचिकित्सा ५६
* अमूढदृष्टिता ५९
* देवमूढता ६०
* लोकमूढता ६०
* समयमूढता ६४
* उपबृंहरण ६५
* स्थिरीकरण ६६
* वात्सल्य ६८
* प्रभावना ७०

७ **जीवन दृष्टि की मलीनताएँ** ७३

* अतिचार ७३
* शंका ७४
* त्रिविध शंका ७६
* श्रद्धा और तर्क का समन्वय ७७
* कांक्षा ८१
* विचिकित्सा ८२
* परपाखण्ड प्रशंसा ८३
* परपाखण्ड संस्तव ८३

८. **साधना का मूलाधार** ८७

* उत्पत्तिक्रम ८७
* पञ्चविध लब्धियाँ ८९
* भेद प्रभेद ९०
* त्रिविध-दर्शन ९२
* दशविध रुचि ९४
* सम्यग्दर्शन के भूषण ९५

* सम्यग्दर्शन की भावनाएँ ९८
* छह स्थान ९९

सम्यग्ज्ञान : एक परिशीलन

९. अन्तर का आलोक १०१
* ज्ञान की महिमा १०१
* ज्ञान-ज्ञेय का सम्बन्ध १०२
* ज्ञान-ज्ञाता का सम्बन्ध १०२
* बाह्य-आन्तरिक प्रकाश १०५
* ज्ञान और सुख १०८
* ज्ञान और भय ११०

१०. साधना का प्रकाशस्तम्भ : सम्यग्ज्ञान ११२
* ज्ञान की पूर्णता ११२
* ज्ञान के तारतम्य का आधार ११२
* आवरण की विनश्वरता ११३
* ज्ञान की विकृतियाँ ११३
* सम्यग्ज्ञान की कसौटी ११५
* अध्यात्मशास्त्र का सम्यग्ज्ञान ११६

११ ज्ञान की तरंगें १२१
* विविधता का कारण १२१
* ज्ञान के विभाग १२२
* क्रम मीमांसा १२३
* मति-श्रुत मे समानता १२४
* पौर्वापर्य १२५
* मतिश्रुत व अवधिज्ञान मे समानता १२५
* अवधि और मनःपर्याय मे समानता १२६

* मन पर्याय और केवल मे समानता १२६
* अनेक बातें १२७

१२. ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः १२८

* साधन से सिद्धि १२८
* ज्ञान एक प्रकाश है १२६
* ज्ञान का महत्त्व १२६
* ज्ञानाभाव मे क्रिया काम क्लेश है १३०
* ज्ञान क्रिया का समन्वय १३१
* समन्वय मे मुक्ति १३२
* अन्धा और पगु १३३

१३. प्रकाश किरणें १३५

* मतिज्ञान १३५
* श्रुतज्ञान १३७
* अवधिज्ञान १३८
* मन पर्यायज्ञान १४१
* केवलज्ञान १४२

सम्यक्चारित्र : एक परिचय रेखा

१४. सम्यक् चारित्र १४५

* सम्यक् चारित्र का महत्त्व १४५
* मुक्ति का साक्षात् कारण १४५
* चारित्र की महत्ता १४६
* आध्यात्मिक क्षेत्र में १४६
* व्यावहारिक क्षेत्र में १४७
* चारित्र की आवश्यकता १४८

१५- चारित्र के दो रूप १५०

* गृहस्थ और त्यागी १५०
* धर्म रसायन है १५१
* गृहस्थ का महत्व १५१
* भावना भव नाशिनी १५३
* गृह भी तपोवन १५४
* दो विभाग १५४

१६ जिन्दगी के हीरे १५५

* प्रस्तावना १५५
* मार्गानुसारी के गुण १५५
* दुर्व्यसन १६६
* द्यूत १६०
* मांस भक्षण १६०
* मदिरापान १६१
* वेश्यागमन १६८
* शिकार १६२
* चौर्यकर्म १६३
* परस्त्रीगमन १६३

१७ श्रावक धर्म १६४

* देशविरति १६४
* पाँच अणुव्रत १६५
* तीन गुणव्रत १६६
* चार शिक्षाव्रत १६६
* व्रत विधान क्यों ? १६८

१८- श्रमण धर्म १६९

* सर्व विरति १६९

* जीवन क्या है ? १६९
* जीवन का सदुपयोग १७०
* आत्मोपलब्धि का साधन १७०
* त्याग का सही अर्थ १७१
* सर्वविरति का प्रारण १७२

१९ धर्म की रीढ़ : अहिंसा १७४

* अहिंसा आत्मा का स्वभाव है १७५
* अहिंसा का इतिवृत्त १७६
* अहिंसा और विश्वशान्ति १७८
* अहिंसा और पशुजगत् १७८
* हिंसा क्या है ? १८०
* कृत्य और अकृत्य की कसौटी १८१
* हिंसा और अहिंसा का विश्लेषण १८२
* भ्रान्त धारणाओं का निराकरण १८३
* दुर्वृत्ति का उद्गम कहाँ से ? १८४
* आत्मवत् सर्वभूतेषु १८४

२० साधना का मूलस्रोत : सत्य १८६

* जिह्वा का महत्त्व १८७
* जिह्वा के दो कार्य १८८
* सत्य का विश्लेषण १८९
* सत्य की महिमा १८९
* सत्य शिव सुन्दरम् १९१
* सत्यमेव जयते १९२

२१ अस्तेय का विराट् रूप १९३

* अस्तेय की आवश्यकता १९३
* प्रामाणिकता की पुकार १९४

* चोरी महान् पाप है — १९५
* मानवता का भीषण कलंक — १९६
* शासकीय क्षेत्र में — १९६
* व्यापारिक क्षेत्र में — १९७
* साहित्यिक क्षेत्र में — १९८
* साधक का कर्त्तव्य — १९९

२२. ब्रह्मचर्य की शक्ति — २००

* आत्मशुद्धि और तप — २००
* तप का मूलाधार — २०१
* प्राचीन परम्परा — २०२
* सच्चाई छिप नहीं सकती — २०३
* सिनेमा और ब्रह्मचर्य — २०४
* जीवन समृद्धि का मूलमंत्र — २०५
* इन्द्रिय संयम — २०६

२३. साधना का सौन्दर्य : अपरिग्रह — २०७

* दुःख का मूल — २०७
* सुख का सुधास्रोत — २०८
* कामनाओं पर विजय — २०९
* इच्छाओं का अन्त — २१०
* निर्लेप वृत्ति — २११
* परिग्रह पाप का मूल — २१२

सम्यग्दर्शन : एक अनुचिन्तन

साधना का ध्येय

लक्ष्य बिन्दु-सुख

विराट विश्व में अनन्त प्राणी है—छोटे और मोटे, विकसित चेतना वाले और अविकसित चेतना वाले, जगम और स्थावर। उनके जीवन-व्यापारो को सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो उन सब के मूल में एक ही उद्देश्य निहित प्रतीत होगा—सुख की प्राप्ति। प्राणीमात्र सुख की सप्राप्ति के स्पृहणीय ध्येय को समक्ष रखकर ही सतत प्रवृत्तिशील है। यही वह वृत्ति है जो जीवमात्र को सचालित, आन्दोलित और प्रवृत्ति परायण बनाये रहती है। विविध प्रकार की जो प्रवृत्तिया हम देखते है, वे सब इसी वृत्ति का पोषण करने के लिए है। उनका कोई पृथक् उद्देश्य नही है। किन्तु सुख क्या है ? इस तथ्य पर कितने लोग विचार करते है ? अमनस्क प्राणियो की बात छोडिए। उनमे विकसित मन नही है, उनकी चेतना इतनी गतिशील नही है कि वे इस प्रश्न पर विचार कर सके। मनुष्य इस सृष्टि का शृंगार कहलाता है, सम्राट् माना जाता है, उसकी आलोकमयी चेतना की प्रखर किरणें सृष्टि के कोने-कोने मे फैलती है। फिर भी कितने मनुष्य हैं जो गभीर भाव से इस मूलभूत प्रश्न पर विचार करते हो ?

सुख और आत्मा

सुख आत्मा का एक स्वभावसिद्ध सहज गुण है। जैसे ज्ञान, दर्शन और वीर्य आत्मा के असाधारण गुण है, उसी प्रकार सुख भी। यह गुण असाधारण इस कारण है कि आत्मा के अतिरिक्त किसी भी अन्य द्रव्य मे इसकी सत्ता नही है।

आत्मा में अनन्त-अपरिमित सुख गुण विद्यमान है। आत्मा निसर्गत. अनन्त आनन्द का धनी है। उसे प्राप्त करने के लिए किसी भी भौतिक साधन की आवश्यकता नही है। सुख के अभाव में आत्मा का और आत्मा के अभाव में सुख का अस्तित्व कल्पना से भी अतीत है। गुण और गुणी मे अविनाभाव सबध है।

हम जानते है, भारतीय दर्शनों में कतिपय ऐसे भी हैं जो द्रव्य और गुण की पृथक् सत्ता को अगीकार करते है, मगर साथ ही वे दोनो का नित्य सम्बन्ध भी, जो समवाय कहलाता है, स्वीकार करते हैं। यह मान्यता भले द्राविड प्राणायाम जैसी हो, तथापि इसका फलितार्थ तो यही है कि द्रव्य और गुण सदा काल साथ ही रहते हैं—एक को छोड़ कर दूसरा नही रह सकता। यद्यपि यह मान्यता तर्क की कसौटी पर सही सिद्ध नहीं होती और इसकी छाया मे मुक्ति का स्वरूप विकृत हो जाता है, तथापि इस दृष्टि से यहा विचार करना प्रस्तुत नही है।

ज्ञान और आनन्द

कुछ मनीषियों की धारणा है कि प्राणियो की सतत प्रवृत्ति का चरम लक्ष्य सुख नही, ज्ञान है। व्यक्त या अव्यक्त रूप में ज्ञान की उपलब्धि के लिए ही मानव तथा मानवेतर प्राणी

प्रवृत्तिशील रहते है। परन्तु ज्ञान[1] स्वय साध्य नही, साधन है। ज्ञान प्रकाश देता है प्रेरणा देता है किन्तु तृप्ति प्रदान नही कर सकता। ज्ञान सवेदन हो सकता है, मगर उस सवेदन में से झरने वाला रस तो आनन्द ही है। ज्ञान कई वार मनुष्य को व्याकुल वना कर छोड देता है। उस व्याकुलता की निवृत्ति ज्ञेय पदार्थ के यथोचित सेवन से उपलब्ध होने वाली रसानुभूति से ही होती है। ज्ञान मे सन्तुष्टि नही, सन्तुष्टि रसानुभूति मे है। रसानुभूति द्वारा मन कृतार्थता अनुभव करता है।

'रस' का कोई एक नियत मापदण्ड नही है। जिस वस्तु में एक को रसानुभव होता है, उसी को दूसरा नीरस समझ कर छोड देता है। इस विभिन्नता के अनेक कारण हो सकते है, जिनमे योग्यता एव रुचि के स्तर की विचित्रता भी एक प्रधान कारण है।

कुछ भी हो, यह असदिग्ध है कि जीवनधारी मात्र की प्रवृत्ति का परम एव चरम लक्ष्य-विन्दु सुख है और वह आत्मा की अपनी वस्तु है।

सुख की अभिव्यक्ति

प्रश्न किया जा सकता है—यदि सुख आत्मा की ही सम्पत्ति है तो वह सदैव स्वत प्राप्त रहना चाहिए। उसके लिये जीवनव्यापी सघर्ष की क्यो आवश्यकता होती है?

उत्तर है—जैसे आत्मिक ज्ञान अनन्त-असीम होने पर भी आवरण आ जाने के कारण विकृत और सीमित हो रहा है

---

[1]केवल ज्ञान साध्य है, और मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय ये चार ज्ञान साधन है।

उसी प्रकार स्वाभाविक सुख-सम्पत्ति का भी आत्मा मे अनन्त, असीम और अक्षय कोप है परन्तु आवरण के कारण उसमे विकृति आ गई है। वह अल्प मात्रा मे ही अनुभव मे आ रहा है। ज्यो ज्यो आवरण क्षीण होते जाते है, सुख की मात्रा वृद्धिगत होती जाती है, उसका रूप भी निखरता चला जाता है। पूर्ण निरावरण दशा मे सुख, ज्ञान की ही भाति, अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप मे अभिव्यक्त हो उठता है। इस सत्य को इतर दार्शनिको ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

> आनन्द ब्रह्मणो रूप,
> तच्च मोक्षऽभिव्यज्यते।

आनन्द (सुख) आत्मा का स्वरूप है और वह मोक्ष-अनावरण अवस्था मे अपने असली स्वाभाविक रूप मे प्रकट होता है।

भौतिक और आध्यात्मिक सुख

सुख वस्तुत एक है किन्तु अवस्था भेद से उसके दो रूप बन जाते है—विकृत और अविकृत सुख। भारत के आध्यात्मवेत्ता महान् मनीपियो ने सुख के खजाने को दो भागो मे विभक्त किया है—एक भौतिक सुख और दूसरा आध्यात्मिक सुख। यह विभाग आत्मिक विकृति और अविकृति के आधार पर अवस्थाभेदकृत ही है।

आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ मनुष्य विशुद्ध आत्मानन्द की अनुभूति करने मे अक्षम होता है; साथ ही नैसर्गिक होने के कारण सुख किसी भी स्थिति मे पूर्ण रूप से नष्ट भी नही होता—दब भी नही सकता। तब वह विकृत रूप मे अपनी सत्ता को सार्थक

बनाता है। वह मन और इन्द्रियो के द्वारो से उद्भासित होता है। परपदार्थ उसके माध्यम बनते है। ऐसा सुख साधारणतया भौतिक सुख कहलाता है, जिसे परमार्थवेत्ता 'सुखाभास' की सार्थक सज्ञा प्रदान करते हैं।

भौतिक सुख प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अधिकाधिक बाह्य वस्तुओं पर निर्भर होना पडता है। श्रोत्र और नेत्र की तृप्ति के लिए नृत्य, गायन, नाटक, सिनेमा देखना-सुनना, घ्राणेन्द्रिय की प्यास बुझाने के लिए सौरभ सम्पन्न सुमन-उद्यान में विचरण करना, रसनेन्द्रिय को तृप्त करने के लिए भाति भाति के भोज्य और पेय पदार्थो को जुटाना तथा स्पर्शेन्द्रिय की आराधना के लिए अनेक प्रकार की सामग्री जुटाना होता है।

आध्यात्मिक सुख पर-निरपेक्ष होता है। साधक जब साधना के अनेक सोपान पार कर चुकने के पश्चात् विशुद्ध आत्मानुभूति, आत्मरमण, करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, तभी उस सुख का समास्वादन किया जा सकता है। जितनी-जितनी आत्मनिष्ठा, आत्मानुभूति या आत्मसाधना बढती जाती है, आध्यात्मिक सुख की मात्रा भी बढती चली जाती है। जगत् मे रहता हुआ भी साधक जब जागतिक प्रपचो से विलग होकर अपने को सर्वथा अलिप्त बना लेता है, तब आध्यात्मिक आनन्द के परम पीयूष के प्रशान्त निर्झर का अखण्ड स्रोत उसकी आत्मा मे प्रवाहित होने लगता है।

इस प्रकार एक सुख बाह्य है, दूसरा आन्तरिक है, एक अस्थायी है, दूसरा स्थायी है, एक बुझने वाला है, दूसरा चमकने वाला है, एक पराश्रित है, दूसरा स्वाश्रित है; एक काल और परिस्थिति से सीमित है, दूसरा सीमातीत है, एक की समाप्ति घोर दुख के रूप मे होती है, तो दूसरे की असीम सुख के रूप

मे होती है । एक सन्ध्या की लालिमा के समान है, जिसके पीछे वेदना विकलता और विविध व्याधियो की काली निशा म डरा रही है, दूसरा उषाकालीन लालिमा है, जिसके पीछे सहस्ररश्मि सूर्य की चिलचिलाती धूप चमक रही है । एक अतृप्ति के गभीर गर्त्त मे गिराता है तो दूसरा कृतकृत्यता प्रदान करता है । एक क्षणिक, दूसरा शाश्वत् है । अतएव एक हलाहल के समान हेय है तो दूसरा पीयूष के सदृश उपादेय है ।

यही कारण है कि भारतीय प्राज्ञ पुरुषो ने भौतिक सुख को महत्त्व न देकर-जीवन का साध्य न मान कर, आध्यात्मिक सुख को ही महत्त्व दिया है । उनकी गभीर गर्जना आज भी गगनम डल मे गू ज रही है कि आध्यात्मिक सुख ही सच्चा सुख है और भौतिक सुख सुखाभास है, मृगतृष्णा है और इसके पीछे अनन्त वेदनाओ का अजस्र प्रवाहित होने वाला स्रोत छिपा है ।

स्पष्ट है कि जो सुख अन्त मे दु ख की प्रचण्ड ज्वालाओ मे झोंक देता है, वह किसी प्रज्ञावान एव दीर्घदर्शी पुरुष की साधना का लक्ष्य नही हो सकता । हमारी साधना का केन्द्र विन्दु तो वही सुख हो सकता है, जिसमे दु ख के गरल का सम्मिश्रण न हो, जिसकी परिणति दु खमय न हो, जो आत्मा को सदा के लिए परितृप्त एव कृतार्थ कर सके । प्रश्न यह है कि इस प्रकार का सुख कैसे प्राप्त किया जा सकता है ।

एक कवि की वाणी स्मरण आती है :-

आतम को हित है सुख सो सुख,
आकुलता बिन कहिए ।
आकुलता शिवमाहि न तातें,
शिवमग लाग्यो चहिए ।

अर्थात् सुख आत्मा के लिए हितकारी है और वह सुख निराकुल अवस्था मे ही प्राप्त किया जा सकता है। पूर्ण-रूपेण आकुलता का अभाव मोक्ष में ही हो सकता है। जब तक पर-पदार्थो के साथ हमारा सम्पर्क है, उनके द्वारा हम सुखानुभूति की कल्पना करते है, तब तक निराकुलता की कल्पना नही की जा सकती। पर-पदार्थो का सयोग अशाश्वत ही होता है वे मिलते है तो विछुडते भी है। मिलने पर हमे हर्ष का और विछुड़ने पर विषाद का अनुभव होता है। यही आकुलता है। इसका अन्त तभी आ सकता है जब उन पदार्थो से मानसिक मुक्ति मिल जाए। इस प्रकार सच्चे सुख की उपलब्धि मुक्ति मे ही है। अतएव विवेकवान पुरुष के लिए यही श्रेयस्कर है कि वह मुक्ति के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करे। अब यह देखना है कि मुक्ति का मार्ग क्या है ?

मुक्ति मार्ग

मुक्ति

जीवनतत्त्व के महान् व्याख्याकारो ने मानव व्यापारो का सूक्ष्म विश्लेषण करके चार पुरुषार्थो का प्रतिपादन किया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चार पुरुषार्थो में धर्म और अर्थ साधन तथा काम और मोक्ष साध्य है। धर्म मुक्ति का साधन है, एव मुक्ति परम पुरुषार्थ है।

विशुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही मोक्ष है जैसे खान मे स्थित स्वर्ण वाह्य एव आन्तरिक मल से युक्त होने के कारण अपनी वास्तविक चमक-दमक से विरहित और इसी कारण मलीमस होता है, उसी प्रकार आत्मा जब तक ससारावस्था मे है, अनेकविध आवरणो से आवेष्टित होने के कारण अपने सहज स्वरूप मे व्यक्त नही होता। उसके ज्ञान दर्शन, सुख, एव वीर्य आदि गुण विकृत, मलिन और अपूर्ण रहते है। इन गुणो का पूरी तरह निखर जाना ही मोक्ष है। ज्यो ज्यो कषाय का कालुष्य और अज्ञान का अधकार निवृत होता जाता है त्यो त्यो आत्मिक स्वरूप मे उज्ज्वलता आती जाती है। उस उज्ज्वलता का परम प्रकर्ष ही निश्रेयस या मोक्ष है।

इस प्रकार आत्मा की विकृति के मुख्य दो कारण है— अज्ञान और कषाय। इनका समूल उन्मूलन करने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अपेक्षित है। "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" यह जैनाचार्यों का सुस्पष्ट विधान है।

दशवैकालिक सूत्र में मोक्ष लाभ का क्रम बहुत सुन्दरता से प्रदर्शित किया गया है। वहां कहा है :—

"पढम णाणं तओ दया" अ. ४

प्रथम ज्ञान और फिर चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है; क्योंकि अज्ञानी जीव बेचारा क्या कर सकता है। उसे तो श्रेयस्-अश्रेयस् का विवेक ही नही होता। जो श्रेयस्-अश्रेयस् को श्रवण करता है, वही उनको जान पाता है।

जो साधक जीव और अजीव का विवेक प्राप्त करता है, वही जीवों की विविध प्रकार की गति-स्थिति-अवस्था आदि को जानता है और तभी उसे उनके कारणभूत पुण्य-पाप तथा बन्ध-मोक्ष का परिज्ञान होता है।

पुण्य-पाप तथा बन्ध-मोक्ष का परिज्ञान साधक के चित्त में दिव्य एवं मानवीय भोगों के प्रति विरक्ति की भावना उत्पन्न करता है।

विरक्ति का बल पाकर वह बाह्य एवं आन्तरिक संयोग के पाश से अपने को पृथक कर लेता है और अनगारवृत्ति अंगीकार करता है।

अनगार वृत्ति अँगीकार करने के अनन्तर उसके समक्ष प्रधान रूप मे दो कर्त्तव्य उपस्थित होते है — नवीन कर्मो का आश्रव-वंध न होने देना और पूर्व वद्ध कर्मो को अनुक्रम से क्षीण करते जाना।

इस प्रकार अज्ञान और अनाचार से वद्ध होने वाले कर्म जव ज्ञान और सयमाचार के द्वारा निरुद्ध हो जाते है और तपश्चरण की जाज्वल्यमान ज्वालाओ से पुरातन घाती कर्मो को दग्ध कर दिया जाता है, तव सर्वत्रगामी ज्ञान और दर्शन के प्रखरतर आलोक से आत्मा का कण-कण उद्-भासित हो उठता है। साधक सर्वज्ञ और सर्वदर्शी की स्पृहणीय स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्थिति प्राप्त कर लेने पर आत्मा जीवन्मुक्त वन जाता है। उसे अपरनि:श्रेयस का लाभ होता है। फिर भी परनिश्रेयससिद्ध अवस्था तो प्राप्य ही रह जाती है।

कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् सर्वज्ञ भगवान् योगनिरोध की चरम[1] क्रिया करते हैं, जिसे आगमिक परिभाषा मे शैलेशीकरण कहते हैं। इस करण के द्वारा मानसिक, वाचिक और कायिक सूक्ष्मतम स्पन्दनो का भी निरोध हो जाता है और फलस्वरूप शेष समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। यही परमनि:श्रेयस है, यही मुक्ति की उपलब्धि है, यही सिद्धि है और यही साधक की उग्रतर साधना की विश्रान्ति है[2]

---

[1] यह क्रिया जीवन के अन्तिम क्षण मे होती है।

[2] दशवैकालिक, अ० ४

इस प्रकार ज्ञान और तदनुसारिणी क्रिया के समन्वय से ही मुक्तिमार्ग की साधना सम्पन्न होती है।

ज्ञान-क्रिया का समन्वय

भारतीय दार्शनिको मे कुछ ऐसे भी है जो क्रियानिरपेक्ष ज्ञान से ही मोक्षलाभ का प्रतिपादन करते है और कुछ ऐसे भी है जो ज्ञानहीन क्रियामात्र से। परन्तु जैनदर्शन इन दोनो एकान्तवादो का निषेध करके ज्ञान और क्रिया-दोनो को मुक्ति के लिए अनिवार्य स्वीकार करता है। उसका सदैव यह निर्घोष रहा है :-

हत ज्ञान क्रियाहीन, हता चाज्ञानिना क्रिया।

क्रिया के विना ज्ञान निष्फल है। जैसे रुग्ण व्यक्ति रोग के लक्षण, निदान और प्रतिकार के उपाय को जान कर भी जब तक औषध सेवन नही करता, आरोग्यलाभ नही कर सकता। इसी प्रकार रोग के लक्षण, निदान और प्रतिकार के उपाय को विना जाने अटसट औषध को उदरस्थ कर जाने वाला व्यक्ति भी नीरोगता प्राप्त नही कर सकता। यही नही, ऐसा करके कदाचित् वह अपने रोग की वृद्धि भी कर लेता है।

जन्मान्ध के समान अज्ञानी पुरुष आध्यात्मिक साधना के विषम पथ पर सहीसलामत अग्रसर नही हो सकता और यदि वह अग्रसर होने का साहस करे तो या तो ठोकर खाकर गिर जाएगा या पथभ्रष्ट हो जाएगा। कोरे ज्ञान में पथ-प्रदर्शन का सामर्थ्य हो सकता है, परन्तु उसमे गति - प्रगति नही, परिदृष्ट पथ पर पाँव वढाने की क्षमता नही। ज्ञान प्रेरणा दे सकता है, परन्तु प्रगति के अभाव में लक्ष्य तक

पहुँचना तो असम्भव है। अतएव जिस प्रकार ज्ञानहीन क्रिया कार्यसाधक नही, उसी प्रकार क्रियाहीन ज्ञान भी निष्फल है। समीचीन ज्ञान के आलोक मे की जाने वाली समीचीन क्रिया ही साधना को सफल बना सकती है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व

ज्ञान और क्रिया मे समीचीनता किस प्रकार आती है? यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सामान्य ज्ञान और सामान्य क्रिया तरतमरूप से प्राणीमात्र मे विद्यमान रहती है, किन्तु वह मोक्ष का कारण नही होती। इन दोनो मे समीचीनता - सम्यक्त्व- उत्पन्न करने वाला सम्यग्दर्शन है। आचार्यप्रवर उमास्वाति कहते हैं —

सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्ष की परिपूर्ण सामग्री है। जिस आत्मा मे इन तीनो का सुमेल होता है वही मोक्ष साधना का सुपात्र बनता है।

साधना का प्रथम सोपान

ज्ञान आत्मा का नैसर्गिक गुण है। नैसर्गिक गुण की एक विशिष्टता यह होती है कि गाढ से गाढ आवरण होने पर भी वह समूल नष्ट नही हो सकता। अतएव ज्ञान प्रत्येक आत्मा मे सदैव रहता है, मगर जब तक सम्यग्दर्शन का आविर्भाव नही होता, वह मिथ्या ज्ञान ही बना रहता है मिथ्याज्ञान के साथ की जाने वाली क्रिया भी मिथ्याक्रिया या मिथ्याचारित्र ही है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन मोक्ष - महल

का प्रथम सोपान है। उसके बिना मोक्ष की आराधना का प्रारम्भ ही सभव नही है।

हाँ, तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेना ही मुमुक्षु के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है। जब तक मिथ्यात्व का अन्त नही आता, सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती, और जब सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती, मुक्तिमार्ग का प्रारम्भ नही हो सकता।

तात्त्विक दृष्टि का उन्मेष

सम्यग्दर्शन ही आध्यात्मिक सुख का मूल स्रोत है। वह आत्मा की अनमोल निधि है। इस निधि को प्राप्त कर आत्मा परभाव से विमुख होकर स्वभाव की ओर उन्मुख होती है। पिपासा से व्याकुल, भ्रान्त हिरण जैसे मृगतृष्णा में जल की कल्पना करके भागता और व्यर्थ परेशान होता है, उसी प्रकार शान्ति और सुख की प्राप्ति के लिए धन जन आदि पर साधन जुटाने के लिए पचने वाला पुरूप भी अन्त मे निराश होता है, यह दृष्टि सम्यग्दर्शन का ही पावन वरदान है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर मनुष्य के दिव्य नेत्र खुल जाते है और उसे अपने ही अन्दर अनन्त, अव्याबाध, अक्षय एवं अजस्र प्रवाहित होने वाले आनन्द का स्रोत दृष्टिगोचर होने लगता है। सुख की असीम समृद्धि उसे अपने आप में ही अनुभूत होने लगती है। तभी वह अपनी अनादि विमूढता को समझने लगता हैं और सोचता है- ओह ! कब से मैं भ्रम ही भ्रम में पड़ा रहा, मैं दुख के साधनो को सुख का साधन समझ कर अपनाता रहा और परिणाम स्वरूप दु.ख का भागी होता रहा; जहाँ सुख

था, वहाँ दृष्टि तक न डाली, दुनिया की खाक छानता रहा और अपना आपा कभी खोजा नही।

परभाव मे सुख मानने की मूढता का अन्त आने पर ही दृष्टि आत्मोन्मुख बनती है। यही से साधक का पथ पलटता है। दिशा बदलती है। जीवन ऊर्ध्वमुखी बनना प्रारभ होता है। समग्र विश्व जैसे आत्मा मे विलीन हो जाता है।

दृष्टि बदल जाने पर सारी सृष्टि ही बदल जाती है। सम्यग्दृष्टि का लाभ होते ही भ्रम का निविड अन्धकार दूर हो जाता है और आत्मा एक अपूर्व, अनुपम, अद्भुत और अलौकिक आलोकपुंज से आलोकित हो उठती है। आत्मा मे ही पारमात्मिक गुणसमृद्धि देख लेने पर समग्र ससार उसे निस्सार प्रतीत होने लगता है। उसे भास होता है— मेरी आत्मा स्वतन्त्र है, शाश्वत् है, अनन्त चेतना और आनन्द से परिपूर्ण है। यह देह नही है, इन्द्रिय नही है, मन नही है, इन सबसे अतीत सच्चिदानन्द है। रागादिभाव आत्मा के निज स्वरूप नही, निमित्तजनित है, पर है,—

ऐगो मे सासओ अप्पा
णाण - दसण - लक्खणो।
सेसा मे बाहिर भावा,
सव्वे संजोग लक्खणा।

सथार पइन्ना

इस प्रकार सम्यग्दर्शन ही समग्र साधना का मूल आधार है। वही साधना का प्राण है। वही सर्वस्व है। वह है तो साधना को अन्यान्य अग जुट ही जाएगे, आज नही तो कल। वह नही है तो उनका जुटना निरर्थक है।

दर्शनशास्त्र मे प्रखर पाण्डित्य प्राप्त कर लिया, न्याय-शास्त्र का अगाध वोध प्राप्त हो गया, व्याकरण पढ कर शब्दो की बाल की खाल उतारने लगे, काव्य, छद और अलकार शास्त्र पढकर कल्पना के पखो पर सवार होकर लम्वी उड़ाने भरने लगे, विज्ञान का गहरा अध्ययन करके आकाश - पाताल एक करने की सोचने लगे, प्रभावशाली प्रवचन करके श्रोताओ को हँसाया, रुलाया चित्र लिखित सा कर दिया त्यागी - वैरागी का वेष धारण करके तीव्र तपश्चरण किया, काया को कृश किया, क्लेश दिया, परन्तु यह सब किस काम का है ? यदि सम्यग्दर्शन न पाया। अक के अभाव में शत नही सहस्र शून्य भी अन्तत. शून्य के ही व्यजक है, निरर्थक हैं।

रुग्ण मनुष्य को पौष्टिक और स्वादिष्ठ भोजन भी लाभ-दायक नही होता। वह उसे पचा नही सकता। अमृततुल्य भोजन भी उसके लिए गरल है। पथ्यकारी न होकर अपथ्यकारी है। इसी प्रकार दृष्टि शुद्धि न होने पर ज्ञान भी वालक के हाथ की तलवार है।

अध्यात्मतत्त्ववेत्ता इस प्रकार के ज्ञान को समीचीन ज्ञान नही मानते। उनका निर्णय स्पष्ट है -

नादंसरिएस्स नारण

जिसको यथार्थ तत्ववोध नही हुआ, जिसने स्व-पर का भेद विज्ञान नही प्राप्त किया, अपने आपको नही पहचाना, जिसका लक्ष्य सही निर्धारित नही हुआ, उसकी जानकारी, सच्ची जानकारी नही। उसका ज्ञान मिथ्या है। मिथ्याज्ञान वन्धन से मुक्ति नही दिला सकता।

दर्शन और ज्ञान

इसके विपरीत जिस ज्ञानालोक के प्रकाश में 'स्व' का अवलोकन किया जाता है, 'स्व' मे ही रमण किया जाता है, जो स्व-सवधी भ्रान्ति एव मूढता का निरास करता है, जिससे शुद्ध आत्मोपलब्धि की पूत प्रेरणा प्राप्त होती है, जो निगूढ कषाय ग्रन्थि का विभेदन करके स्वस्वरूप को उद्भासित कर देता है, जो विषय - कषाय के प्रति हेयभाव को उत्पन्न करता है और जो अनासक्ति को जागृत कर देता है, वही समीचीन ज्ञान है और ऐसा ज्ञान सम्यग्दर्शन के विना उद्भूत नही होता।

दर्शन और चारित्र

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव मे सम्यग् ज्ञान नही हो सकता, उसी प्रकार सम्यग् ज्ञान के अभाव मे सम्यक् चारित्र सम्भव नही है। ज्ञान के अभाव मे की जाने वाली क्रिया अन्धी है, क्योकि उसमें विवेक और विचार का प्रकाश नही होता। वह लक्ष्ययुक्त नही होती। ऐसी क्रिया भव भ्रमण घटाने के वदले वढा देती है।

कोई मिथ्यादृष्टि साधक धन्य (धन्ना) अनगार की तरह उग्रतर तपश्चरण करके शरीर को शुष्क बना सकता है, मगर

उनकी भाँति कर्मो को निर्जरा नही कर सकता। उसकी कठोर साधना से शरीर जर्जरित हो सकता है, किन्तु कर्म जर्जरित नही हो सकते। जैन धर्म का यह वज्रनिर्घोष रहा है कि अज्ञानी मनुष्य कोटि-कोटि वर्षो तक कठिन काय क्लेश सहन करके जितने कर्मों का क्षय कर पाता है, ज्ञानी एक उच्छ्वास जितने स्वल्पकाल मे ही उतने कर्मों का क्षय कर डालता है—

> जं अन्नाणी कम्मं,
> खवेइ बहुयाहिं वास कोडीहिं।
> तं नाणी तिहि गुत्तो,
> खवेइ ऊसास मितेण।
>
> महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक गा. १०१

जैनधर्म क्रिया को ज्ञान के गज से नापता है और ज्ञान को सम्यग्दर्शन के गज से।

आपके पास सोडा है, साबुन है, अरीठा है, किन्तु जल नही है, तो क्या वस्त्र धुल सकेगा? वह स्वच्छ हो जायगा? कदापि नही। हाँ, जल हो और सोडा-साबुन न हो तो मल-मल कर मलमल को कदाचित् साफ किया जा सकता है। जैसा चाहिए वैसा स्वच्छ चाहे न हो, तो भी कुछ न कुछ तो होगा ही। सम्यग्दर्शन जल के समान है तो क्रिया सोडा-साबुन के समान। सम्यग्दर्शन रूपी विमल सलिल के अभाव मे क्रिया का सोडा-साबुन मुक्तिमार्ग मे अनुपयोगी है।

एक हजार रुपये के नोट का कागज है और दूसरा उतना ही लम्बा-चौडा सादा कागज का टुकड़ा है। कागज की दृष्टि से दोनो में क्या अन्तर है? फिर भी दोनो के मूल्य में बहुत बड़ा अन्तर है। इसका कारण यही है कि एक पर सरकार की मोहर है और दूसरे पर

नही है। इसी प्रकार जिस ज्ञान और क्रिया पर सम्यग्दर्शन की छाप है, उसी का मूल्य है। जिस पर सम्यग्दर्शन की छाप नही, उसका कुछ भी मूल्य नही।

सहस्त्रो वर्षो तक मोती समुद्र मे निमग्न रहता है, किन्तु गलता नही। वही मोती, कहते है, हस के मुख मे जाते ही क्षण भर मे, गल कर पानी वन जाता है। कर्म-मोती भी सम्यग्दृष्टि के चारित्र का सम्पर्क होते ही गलित हो जाते हैं—विनष्ट हो जाते है।

सम्यग्दर्शन का चमत्कार

सम्यग्दर्शन वास्तव मे एक अलौकिक ज्योति है। उसका चामत्कारिक प्रभाव हमारी कल्पना से परे और मति से अगोचर है। उसकी अद्‌भुत क्षमता का विचार चित्त मे विस्मय उत्पन्न कर देता है। जो जीव अनन्त अतीत मे मिथ्यात्व के प्रगाढ़ वन्धनो मे आवद्ध रहा है, वह यदि किसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त जितने काल के लिए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करले, तो भी उसके भवभ्रमण की एक काल सीमा निश्चित हो जाती है। उस सीमा के भीतर-भीतर ही उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि सम्यग्दर्शन कुछ मिनटो तक हो अस्तित्व मे रहा और फिर गायव हो गया, तथापि स्वल्प काल मे ही वह आत्मा मे ऐसी कोई विशिष्टता पैदा कर गया कि वह आत्मा मोक्ष का अधिकारी वन गया और उसका भवभ्रमण अनन्त न रहकर शान्त हो गया। सम्यग्दर्शन की यह अद्‌भुत क्षमता है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रकट करते हुए आचार्य यथार्थ ही कहते हैं—'दसणमूलो धम्मो'। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। मूल के अभाव में वृक्ष टिक नहीं सकता। सम्यग्दर्शन के अभाव मे धर्म नही टिकता।

ज्ञातपुत्र भगवान् श्री महावीर की इस भविष्य वाणी से कौन जैन अनभिज्ञ होगा कि सम्राट् श्रेणिक आगामी उत्सर्पिणी काल मे तीर्थंकर

का महामहिम पद प्राप्त करेंगे ? प्रश्न यह है कि किस योग्यता के वल पर उन्होने इस प्रकृष्टतम पुण्य प्रकृति का वन्ध किया ?

न सेणिओ आसि तया बहुस्सुओ,
न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो।
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सइ,
समिक्ख पन्नाइ वरं खु दसणं॥

जिस समय श्रेणिक ने तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध किया, उस समय उनमे कौन-सी विशेपता थी ? न वह वहुश्रुत विद्वान् थे, न प्रज्ञप्ति जैसे आगम के वेत्ता थे, और न उनको 'वाचक' पदवी ही प्राप्त थी। फिर भी वह आगामी काल में तीर्थंकर होगे। यह किसका पुण्य-प्रताप है ? यह केवल सम्यग्दर्शन का ही अपूर्व चमत्कार है। यह घटना स्पष्ट ही इगित करती है कि मोक्षमार्ग मे सम्यग्दर्शन का कितना उच्च स्थान है।

सम्यग्दर्शन का उदय होने पर चेतना में ऐसी विशिष्ट उज्ज्वलता आ जाती है, जो मिथ्यादृष्टि को कदापि प्राप्त नही हो सकती। इस कारण जिनागम के एक विद्वान् को कहना पड़ा—"जिसका अन्तरतर सम्यग्दर्शन के आलोक से प्रकाशित हो गया है, वह पशु भी मनुष्य के सदृश हो जाता है और जिसकी आत्मा मिथ्यात्व के कारण विवेकविकल है, वह मनुष्य भी पशु के समान है।"

स्पष्ट है कि हमारी समग्र अध्यात्म साधना का मूलाधार सम्यग्दर्शन ही है। यही वह भूमिका है जिस पर साधना का सुमनोरम सौध निर्मित किया जा सकता है।

साधना का सर्वोच्च वरदान

जिन्हे नेत्र प्राप्त है, वे सभी प्राणी देखते हैं। किन्तु सबका देखना शुद्ध देखना नही होता। यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि नेत्रों पर जिस रग का चश्मा लगा लिया जाता है, दृश्य पदार्थ उसी रग के दृष्टिगोचर होने लगते है। यद्यपि रंगीन चश्मा लगा लेने से पदार्थों का रग-रूप बदल नही जाता, वे अपने ही रंग-रूप में रहते है, फिर भी चश्मे के निमित्त से उस रूप मे दिखाई देते है। इसे बाह्य दृष्टि से विपर्यास कह सकते है।

दृष्टि विविधता

इसी प्रकार आन्तरिक दृष्टिविपर्यास होता है। आत्मा की दृष्टि शक्ति के सामने सघन राग-द्वेष का चश्मा जब तक चढा रहता है, तब तक बाह्य चश्मा न होने पर भी आत्मा शुद्ध स्वरूप में पदार्थों का अवलोकन नही कर सकता। जब इन्द्रियाँ किसी वस्तु का अनुभव करती है और मन चिन्तन करता है, तभी जीव की राग-द्वेष रूप परिणति उस अनुभव और चिन्तन मे अपना रग घोल देती है। परिणाम यह होता है कि हमे उस रग के अनुरूप ही दृश्य दिखाई देने लगते है और हम शुद्ध स्वरूप को नही देख पाते। 'यथा दृष्टिस्तथा सृष्टि.' मनुष्य की जैसी दृष्टि बन जाती है, वैसी ही उसे सारी सृष्टि नजर आने लगती है।

दृष्टिभेद मे एक ही दृश्य किस प्रकार भिन्न-भिन्न रूपो में दृष्टिगोचर होता है, यह अनुभव सिद्ध तथ्य है। तथापि सुगमता के लिए एक उदाहरण लीजिए—किसी विलासिनी का निर्जीव कलेवर पडा है। उसे एक कामुक देखता है, एक वासनामुक्त योगी देखता है और एक कुत्ता देखता है। तीनो की दृष्टि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। कामुक सोचता है—आह, कामवासना तृप्ति का एक सुन्दर साधन नष्ट हो गया। योगी उसे ससार एव जीवन की अनित्यता का प्रत्यक्ष उदाहरण समझता है और अपने वैराग्य की वृद्धि करता है। कुत्ता सोचता है—कब इस कलेवर के पास से लोग हटें और मैं अपने उदर की आग शमन करूँ।

एक ही दृश्य के विषय में तीन दर्शको की दृष्टियाँ तीन ही प्रकार की हैं। इस दृष्टिभेद का क्या कारण है ?

अन्तरतर के सस्कारो द्वारा जनित विभिन्न वृत्तियाँ इस दृष्टि वैचित्र्य का मूल कारण हैं। इसी प्रकार जब तक मनुष्य मे अनन्तानुबन्धी जैसे प्रगाढ़ कषाय का अस्तित्व है और साथ ही दर्शनमोह का अखण्ड साम्राज्य है, तब तक वृत्तियाँ निर्मल नही बन पाती। कलुषित वृत्तियाँ दृष्टि को मलीमस बनाती हैं और जब दृष्टि ही मलीमस होती है तो मनुष्य की सारी सूझ-बूझ भ्रान्त और मिथ्या बनी रहती है। ऐसी स्थिति मे मानवीय व्यापार सही दिशा मे ही प्रेरित हो, यह सम्भव नही।

तात्त्विकी दृष्टि

किन्तु आत्मा इतना अभागा नही, इतना निस्तेज और निर्वीर्य नही कि इस अधोदशा से कभी छुटकारा ही न पा सके। निमित्त पाकर उसका वीर्य उल्लसित होता है और तेज प्रस्फुटित होता है। तब आत्मा अपनी मलीमस मनोवृत्ति से, मिथ्यात्वदशा से मुक्ति पाता है

और उसकी रुचि, प्रतीति एवं श्रद्धा सही दिशा मे प्रवृत्त होती है। वह वस्तु स्वरूप को उसके यथार्थ रूप मे देखने लगता है। सत्य के प्रति अटल विश्वास जागृत हो जाता है। वह स्व-स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझने लगता है। अब तक राग-द्वेष का जो चश्मा, वस्तु स्वरूप के अवलोक मे अपना रग मिला देता था, वह नही मिला पाता। इस कारण आत्मा को शुद्ध तत्त्व दृष्टिगोचर होने लगता है। सक्षेप मे, यही सम्यग्दर्शन है।

अपूर्व दर्शन

जन्मान्ध पुरुष को सहसा दृष्टि प्राप्त हो जाय तो उसके सामने विविध रग-रूपमयी और नाना आकार-प्रकार वाली सृष्टि की अपूर्व छटा उपस्थित हो जाती है, जिसकी पूर्व मे वह कल्पना भी नही कर सकता था। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर आत्मा को पूर्वदृष्ट पदार्थ नूतन स्वरूप मे दृष्टिगोचर होने लगते है। मानो समय विश्व ने सहसा पुराना चोला उतारकर नया चोला धारण कर लिया हो। ऐसी आत्मा के समस्त मापदण्ड वदल जाते है। वह नये सिरे से वस्तु का मूल्य निर्धारित करने लगता है। जिस भोगसामग्री को वह जीवन का सर्वस्व समझता था, उसे रोग समझने लगता है। जिन मणि और स्वर्ण आदि वस्तुओ को वहुमूल्य मानकर उनकी प्राप्ति के लिए पुण्य-पाप एवं नीति-अनीति की अवगणना करता था, वही उसे मिट्टी के टुकडे नजर आने लगते है।

एक हिन्दी-कवि ने सम्यग्दर्शी की चित्तवृत्ति का अतीव सुन्दर और सजीव चित्रण करते हुए कहा है—

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखा भोग।
काक-बीट सम गिनत है, सम्यक्दर्शी लोग॥

षट् खण्ड भारत क्षेत्र के अद्वितीय अधिपति, चतुर्दश महान् रत्नो के और नव निधानो के स्वामी चक्रवर्त्ती की विभूति इसमर्त्य लोक मे असाधारण मानी जाती है। इन्द्र का दिव्य वैभव स्वर्ग लोक में सर्वोत्तम समझा जाता है, जिसके लिए सामान्य देव पुरुष भी तरसते है। किन्तु इस असाधारण, अतुल और अनुपम विभूति को भी सम्यग्दृष्टि तुच्छ समझता है। उसकी विशुद्ध दृष्टि में वह 'काक-वीट' है। इस प्रकार की निखालिस दृष्टि प्राप्त हो जाना ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दृष्टि की अलिप्तता

यह अनिवार्य नही कि सम्यग्दृष्टि सम्पन्न पुरुष गृहवास त्याग कर गिरिवास अगीकार करे ही, परिवार का परित्याग कर अनगार ही वने और सासारिक व कुटुम्व जाल को छिटका ही दे, वह ऐसा कर भी सकता है और नही भी कर सकता। वह गृहस्थी में रहता है, तब भी मुमुक्षु होकर रहता है। परिवार के पालन-पोषण, सगोपन और सरक्षण मे व्यस्त रह कर भी उसमें लिप्त नही होता। भोगोपभोगो का भोग करता हुआ भी उनमे तन्मय नही होता। उसका अन्तस् उसी प्रकार विलग रहता है जैसे जल में रहने वाला कमल जल से विलग रहता है।

> सम्यग्दृष्टि जीवडा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
> अन्तस से न्यारौ रहे, ज्यो धाय खिलावे बाल॥
>
> —आलोचना पाठ

धाय वालक को दूध पिलाती है, खेलाती है, वालक के दु.ख में दुखी और सुख में सुखी होती है। वह जननी के समान सभी वाह्य व्यापार करती है। परन्तु क्या एक क्षण के लिए भी कभी भूल सकती है कि यह वालक वस्तुत मेरा नही–पराया है?

इस विषय मे उसका आन्तरिक विवेक सदा जागृत रहता है। यही स्थिति सम्यग्दृष्टि जीव की होती है। वह कभी विवेक को दृष्टि मे ओझल नही होने देता। वास्तविकता उसका पथप्रदर्शन करती है। वह सभी कुछ करता हुआ भी मानो कुछ नही करता।

दर्शन की कसौटी

जैनागमो मे सम्यग्दर्शन की परिभाषा अनेक प्रकार से की गई है। वाचक उमास्वाति अपने प्रसिद्ध तत्त्वार्थ सूत्र मे कहते है :—

तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्।

अर्थात्—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष, इन तत्त्वो पर श्रद्धान उत्पन्न हो जाना सम्यग्दर्शन है।

आवश्यक सूत्र में कहा गया है —

अरिहन्तो महदेवो,
जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिण-पण्णत्तं तत्त,
इइ सम्मत्तं मए गहियं॥

काम क्रोध मद मोह आदि समस्त विकारो के विजेता वीतराग परमात्मा ही मेरे देव है, पाँच महाव्रतो के धारक सुसाधु ही मेरे गुरु है, और वीतराग प्ररूपित तत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है, इस प्रकार की दृढ श्रद्धा सम्यक्त्व कहलाती है।

इन परिभाषाओ में अर्थत. अन्तर नही है। आशय यह है कि यथार्थ श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि रूप आत्मपरिणति ही सम्यग्दर्शन है।

ज़िन्दगी की बदलती हुई तस्वीरें

उत्पत्ति क्रम :

सागर की ऊपरी सतह को देख कर ही यह नही जाना जा सकता कि इसके नीचे असीम और अथाह जलराशि विद्यमान है। उसकी गहराई का पता तो तभी चलता है जब उसके भीतर अवगाहन किया जाय।

जैन परम्परा मे 'सम्यग्दर्शन' बहुत प्रचलित शब्द है। तथापि उसके अद्भुत प्रभाव को और उसके वास्तविक स्वरूप को, साथ ही उसके उत्पत्तिक्रम को जानने वाले विरले ही मिलेगे। किन्तु इन तथ्यो को सही रूप मे समझे बिना सम्यग्दर्शन को पूरी तरह समझना सम्भव नही है। यद्यपि प्रस्तुत विषय शास्त्रीय परिभाषाओ से भरा है और इस कारण सर्वसाधारण के लिए दुरुह एव दुर्बोध है, तथापि वह अगम्य नही है। साधना के क्षेत्र मे उसका जो महत्त्व है, उसे देखते हुए प्रत्येक मुमुक्षु को उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव और स्वरुप पर किंचित् प्रकाश डाला जा चुका है। यहा उसके उत्पत्तिक्रम के सम्बन्ध में कहना है।

त्रिविध आत्माएँ :

विराट् विश्व मे जो अनन्त स्वतन्त्र आत्माएँ है, चाहे वे चर (त्रस) है या अचर (स्थावर), जैन दर्शन में, आध्यात्मिक विकास की

दृष्टि से उनका तीन भागो में वर्गीकरण किया गया है। वे है—वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।[1]

वहिरात्मा

जो आत्मा पूर्णरूपेण वहिर्मुख या वहिर्वृत्ति रहता है, वह वहिरात्मा कहलाता है। इस अवस्था में आत्मा अपने वास्तविक एव विशुद्ध स्वरूप से, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की प्रवलता के कारण सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। उसे आत्मदेवता का दर्शन नही होता। वह पररूप को ही स्वरूप मानता है। पर-पदार्थो मे ही उसकी रुचि और ममता रहती है। अतएव उन्हे प्राप्त करने के लिए ही वह रात-दिन निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। वह अनमोल आत्मिक निधि से अनभिज्ञ होने के कारण वाह्य पदार्थों के पीछे दीवाना बना भटकता है। उनके संयोग मे हर्ष और वियोग मे विषाद का अनुभव करता है।

यद्यपि आत्मा और शरीर खड्ग और म्यान की तरह पृथक्-पृथक् सत्ता वाले है, दोनो के स्वरूप मे कोई साम्य नही है, तथापि

---

१. (क) अन्ये तु मिथ्या दर्शनादि भाव परिणतो वाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवल ज्ञानादि परिणामस्तु परमात्मा।

— अध्यात्ममत परीक्षा गा १२५

(ख) वाह्यात्मा चान्तरात्मा च, परमात्मेति च त्रयः
कायाधिष्ठायक ध्येयाः प्रसिद्ध योगवाङ्मये ॥ १७
अन्ये मिथ्यात्व सम्यक्त्व केवल ज्ञान भागिनः।
मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनी ॥ १८

—योगावतार द्वात्रिंशिका

(ग) परमात्म प्रकाश, गा. १३-१४, १५

वहिरात्मा उनके पार्थक्य को अनुभव नही कर पाता। वह देह को ही आत्मा समझता है।

जिस प्रकार दिग्भ्रान्त मानव पश्चिम को पूर्व मान कर चलता है और अपनी मजिल से दूर दूरतर होता जाता है, उसी प्रकार भ्रमग्रस्त वहिरात्मा भी सुख प्राप्ति के लिए दुखो के मार्ग को अपनाता है और सुख से वचित होता जाता है।

जीव की यह स्थिति मिथ्यात्व मोह के उदय से होती है, मगर सभी वहिरात्माएँ एक ही समान मोहग्रस्त नही होती। उनमें भी असख्य प्रकार का तारतम्य होता है, जिसे छद्मस्थ नही जान सकता।

प्रकाश की ओर

भवभ्रमरण करते-करते और विविध प्रकार के विषम, दुस्सह एव भयानक कष्ट तथा सन्ताप सहन करते-करते कदाचित् ऐसा अवसर आता है, जव मोह का आवरण किञ्चित् पतला पड जाता है। अकामनिर्जरा करते-करते अन्यान्य कर्मो की लम्वी स्थिति भी कम हो जाती है। मोह कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटिसागरोपम की, ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय की ३०-३० कोटा-कोटि सागरोपम की, नाम और गोत्र कर्म की २०-२० कोटा कोटि सागरोपम की, और आयु कर्म की ३३ सागरोपम की है। इनमे से आयु कर्म को छोड कर शेप कर्मो की स्थिति घट कर जव एक कोटा कोटि सागरोपम से भी किचित् न्यून रह जाती है, उस समय आत्मा की सहज वीर्य शक्ति कुछ उल्लसित होती है। ऐसे अवसर पर आत्मा मे उत्पन्न होने वाला विशिष्ट परिणाम यथाप्रवृत्तिकरण कहलाता है[१]। इस करण की उत्पत्ति होना ही आत्मा का सम्यक्त्व प्राप्ति के पथ पर लग जाना है।

१ देखिए विशेपावश्यक भाष्य।

यथाप्रवृत्तिकरण

इस करण की कल्पना को सुगमता से हृदयगम करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने पार्वत्य प्रदेश से निसृत नदी के पाषाण का उदाहरण दिया है।

एक अनगड़ पत्थर सरिता के द्रुतगामी प्रवाह मे वहता हुआ, वार-वार लगातार टक्करें खाता हुआ, घिसता-घिसता गोलमटोल और चिकना वन जाता है। इसी प्रकार कोई-कोई आत्मा कष्टो एव संकटो की विकट घाटियो मे गुजरता हुआ उस पाषाण के समान विशिष्ट योग्यता सम्पन्न वन जाता है। वह दु खो का अनुभव तो अधिक करता है, किन्तु काषायिक भावो की उग्रता कम होने से नवीन कर्म वन्ध कम करता है।

कल्पना कीजिए, एक वस्त्र अत्यन्त मलिन है और उसमे घी या तेल का दाग लग गया है। उसे धूल मे विछा दिया जाय तो स्निग्धता के कारण उस दाग पर इतनी अधिक धूल चिपक जाएगी कि दाग दिखाई देना वन्द हो जाएगा। एक वार उस वस्त्र को सादे जल से धोया जाय तो दाग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगेगा। तत्पश्चात् उस वस्त्र को उष्ण जल से और फिर साबुन या सोडे से दो तीन वार धो लिया जाय तो दाग दूर हो जाएगा और वस्त्र स्वच्छ हो जायगा।

उस वस्त्र को एक वार धूलि मे विछा दिया जाय तो पुनः वह धूलिधूसर हो जायगा, किन्तु चिकनाई न होने से वह उतना अधिक मलिन नही होगा और एक वार साधारण जल से धोते ही साफ हो जाएगा।

मानो, यह आत्मा भी एक वस्त्र है। कर्मों की धूलि के सम्पर्क मे मलिन हो गया है। उसमे राग-द्वेप का दाग लग गया है। उस पर पुन कर्मों की धूल चढ गई है और इस कारण राग-द्वेष का दाग दिखाई नही देता। किन्तु, अकामनिर्जरा करते-करते आत्मा में किंचित् उज्ज्वलता आई है और इस कारण राग-द्वेष का दाग दिखाई देने लगा है। इस प्रकार की उज्ज्वलता ही यथाप्रवृत्तिकरण कहलाती है।

'करण' शब्द का अन्यत्र कुछ भी अभिप्राय हो, यहाँ जीव का 'परिणाम ही करण कहलाता है। उपाध्याय विनय विजय जी ने लोकप्रकाश मे कहा है—

'परिणाम विशेषोऽत्र, करणं प्राणिनां मतम्'

हाँ, तो यथाप्रवृत्तिकरण दो प्रकार का होता है—एक साधारण और दूसरा विशिष्ट। साधारण यथा-प्रवृत्तिकरण मे दाग दिखलाई देता है, किन्तु उसे छुडाने का प्रयत्न करने से पूर्व ही आत्म-पट को धूल में विछा दिया जाता है। फल यह होता है कि आत्मा में जो यत्किंचित् उज्ज्वलता का आभास हुआ था, वह पुनः छिप जाता है और उसकी स्थिति पुनः पूर्ववत् ही हो जाती है। इस प्रकार सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव विशुद्धि के पथ पर अग्रसर नही हो पाता यह करण इतना सामान्य है कि अभव्य जीवो को भी अनन्तवार प्राप्त हो जाता है।

चक्रवर्ती सम्राट् को, राजाओ-महाराजाओ को, श्रेष्ठियो और सामन्तो को, मुनिराजो के चरणो में प्रणिपात करते देख कर और स्वर्ग के चित्ताकर्षक प्रलोभनो की वात सुन कर सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण प्राप्त अभव्य प्राणी भी द्रव्यत· चारित्र अगीकार कर लेता है और उसका

उत्कृष्ट रूप से पालन करता हुआ, दृष्टिवाद के नौवे पूर्व की तृतीय वस्तु[1] तक का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वाह्य चारित्र और ज्ञान प्राप्त करके वह जीव नौवें ग्रैवेयक स्वर्गविमान तक जा पहुँचता है और वहा के स्वर्गीय सुखो का उपभोग कर लेता है, तथापि सम्यग्दर्शन के अभाव मे उसे समीचीन ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति नही होती और परिणामत मुक्ति उसे प्राप्त नही हो सकती।

दूसरा, विशिष्ट यथा प्रवृतिकरण मुक्ति के महा मार्ग पर प्रयाण करने का प्रथम कदम है, पहला स्टेशन है। इसे पार किये विना आगे वढना सम्भव नही है। इसी स्टेशन से मुक्ति का टिकिट हासिल किया जाता है।

अपूर्वकरण

विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण वाले आत्मा को जव आत्मपट पर राग-द्वेष का दाग दृष्टिगोचर होता है तो वह उसे पूरी तरह मिटाये विना चैन नही लेता। प्रवल प्रयत्न करके वह उस दाग को छुटा ही डालता है। यह राग-द्वेष के दाग का शिथिल हो जाना ही अपूर्व-करण[2] कहलाता है। ऐसा परिणाम पुन पुन प्राप्त नही होता, इसी कारण वह 'अपूर्वकरण' कहलाता है। इस करण के प्राप्त होने पर ही आत्मा मे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता अथवा पात्रता आती है।

प्रगाढराग-द्वेष के अत्यन्त मलिन परिणाम—'ग्रन्थि' कहलाते है। इस ग्रन्थि का भेदन अपूर्वकरण के विना सम्भव नही है और

१ जो आगम आज उपलब्ध नही है उस आगम का अध्ययन विशेष।

२ विशेषावश्यक भाष्य प्रवचन सारोद्धार आदि।

ग्रन्थिभेदन के विना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना सम्भव नही है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण अपने सुप्रसिद्ध विशेषावश्यक भाष्य में कहते हैं:—

गंथि त्ति सुदुब्भेओ,
कक्खडघणरूढ गूढगंठिव्व।
जीवस्स कम्म जणिओ,
घणरागद्दोस परिणामो ॥

सघन राग-द्वेष रूप आत्म परिणाम ही ग्रन्थि है। यह ग्रन्थि अत्यन्त कठिनाई से भेदन की जा सकती है। यह आत्मा मे अनादि-काल से या चिरकाल से लगी हुई है। गुप्त वास की गाठ के समान इस ग्रन्थि का भेदन करना आसान नही है।

अनिवृत्तिकरण

अपूर्वकरण के द्वारा ही इस कर्मग्रन्थि का भेदन किया जाता है। ग्रन्थिभेद होने पर आत्माकाश मे व्याप्त भ्रान्ति एव विमूढता की सघन घनघटाए छिन्न भिन्न हो जाती है, प्रकाश की सुनहरी किरणें अपना सुकुमार स्वरूप प्रकट करती है। आत्मा में एक प्रकार की अनिर्वचनीय और अननुभूतपूर्व लोकोत्तर निर्मलता व्याप्त हो जाती है और उसे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है। यही अनिवृत्तिकरण[1] है और यही सम्यक्त्व प्राप्ति का द्वार है।

---

१ (क) आवश्यक मलयगिरी गा० १०६–१०७ टीका
(ख) विशेपावश्यक भाष्य, गा० १२०२ से १२१८
(ग) प्रवचन सारोद्धार द्वार २२४ गा० १३०२ टीका
(घ) कर्म ग्रन्थ द्वितीय भाग गाथा २
(ङ) आगम सार

करण—स्पष्टीकरण

उपर्युक्त तीन करणो को सुबोध बनाने के लिए तीन पथिको का उदाहरण[1] जैन वाड्मय मे प्रसिद्ध है। उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिससे सर्वसाधारण को प्रस्तुत विषय सरलता से समझ मे आ जाय।

एक सेठ के तीन पुत्रो ने व्यापार के उद्देश्य से, किसी महानगर की ओर प्रस्थान किया। प्राचीनकाल मे, आधुनिक युग के समान, यात्रा के द्रुत-तर गामी साधन उपलब्ध नही थे। अतएव तीनो भाई पैदल ही चले। चलते-चलते वे एक विकट एव विजन घाटी मे पहुचे। कही मानव की सूरत दिखाई नही देती थी। मार्ग के दोनो पार्श्वों मे, लम्बी-लम्बी, दूर तक, सघन वृक्ष ही वृक्ष थे। तीनो भाई अपने लक्ष्य तक पहुचने के उद्देश्य से बढे चले जा रहे थे।

अकस्मात् समीप की एक पहाडी की चोटी से दो डाकू नीचे उतरे, उनकी भयानक आकृति हृदय मे कम्पन्न उत्पन्न कर देने वाली थी तथा उनका वह रौद्र रूप धनुषबाण से सुसज्जित और भी भयकर प्रतीत हो रहा था। दिल दहला देने वाली ललकार से ललकारते हुए, वे कुछ दूरी पर, उनके मार्ग मे, मगर उन्ही की ओर मुख करके, अड गये।

तीनो भाइयो मे, जो सबसे छोटा था, प्रबल विरोधियो को देखते ही भयभीत हो गया। भयभीत होने पर मनुष्य का साहस और धैर्य गायब हो जाता है और वह गाठ का बल भी खो बैठता है। वह डाकुओ को सामने देखते ही पीछे की ओर भाग खडा हुआ।

१ (क) विशेपावश्यक भाष्य गा० १२११ से १२१४ तक
(ख) लोक प्रकाश सर्ग ३

दूसरा भाई उसकी अपेक्षा कुछ अधिक साहसी था। वह भागा तो नही, मगर प्रचण्ड सामर्थ्यवान् न होने के कारण विरोधियो पर विजय भी न प्राप्त कर सका। वह उनके अधीन हो गया। और आगे न बढ सका।

तीसरा शूर और पराक्रमी था। उसने अपने प्रबल पराक्रम से शत्रुओ को परास्त कर दिया। वह अपनी प्रगति के अवरोध को छिन्न-भिन्न करके, पथ को निष्कटक बनाकर अग्रसर हुआ और अपने अभीष्ट लक्ष्य पर जा पहुँचा।

उपनय

यही उल्लिखित तीन करणो की कहानी है। तीन करण, तीन श्रेष्ठितनयो के समान, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए प्रस्थित होते है। ग्रन्थिदेश रूपी विकट घाटी मे पहुँचने पर प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण अनन्तानुबधी राग और द्वेष रूप दो प्रचण्ड डाकुओ को सामने अडा-खडा देखते ही पीछे की ओर खिसक जाता हैं। दूसरा, उनपर विजयी नही हो पाता, तथापि विजयी होने की अभिलाषा वाला होता है। तीसरा, जो सबसे अधिक शक्ति-सम्पन्न है, अनन्तानुबधी राग-द्वेष को जिनमे क्रोध, मान माया और लोभ की चौकडी गर्भित है, पराजित कर, घाटी पार कर लेता है, अर्थात—ग्रन्थि भेदन करके सम्यग्दर्शन-चिन्तामणि को प्राप्त कर लेता है।

अन्तरात्मा

सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा मे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विवेक का आलोक आविर्भूत हो जाता है। उस आलोक मे वह आत्मा-अनात्मा के अन्तर को समझने लगता है। उसकी अब तक

पररूप मे स्वरूप की जो भ्रान्ति थी, वह दूर हो जाती है। वह आत्मस्वरूप को निरखने लगता है। हेय और उपादेय के तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के भेद को समझ जाता है। यही स्थिति अन्तरात्मा की भूमिका है।

परमात्मा

तीसरी अवस्था परमात्मदशा कहलाती है। जिस अवस्था मे आत्मा का पूर्ण विशुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। निर्मल चिदानन्द उपलब्ध हो जाता है, समस्त आवरण छिन्न-भिन्न हो जाते है, अज्ञान का निविड अधकार सदा-सर्वदा के लिए नष्ट हो जाता है, लोकोत्तर आत्मज्योति जाज्वल्यमान हो उठती है और अरिहन्त अथवा सिद्ध दशा की प्राप्ति हो जाती है, वह परमात्मदशा ही भव्य साधको का चरम व परम लक्ष्य है।

जीवन दृष्टि के तत्व

लक्षण

सूर्य का उदय सृष्टि को नया रूप, नया जीवन प्रदान करता है। रजनी का निविड अन्धकार सहस्ररश्मि के उदित होते ही असीम आलोक के रूप मे पलट जाता है और चराचर जगत् मे एक नूतन स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है। सुषुप्ति की जडता समाप्त हो जाती है और जागृति की चेतना एव चहल-पहल प्रारम्भ हो जाती है। जैसे समग्र विश्व मे सहसा महाप्राण का संचार हो उठा हो!

सम्यग्दर्शन का उन्मेष होने पर आत्मा की भी ऐसी ही स्थिति होती है। जब तक सम्यग्दर्शन उदय नही होता, आत्मा सुषुप्त, जड़ताग्रस्त और प्राणविहीन सा बना रहता है। मगर सम्यग्दर्शन का उदय होते ही आत्मा में एकदम नवीन आलोक उत्पन्न होता है और वह आलोक उसमे एक ऐसा स्पन्दन पैदा करता है जो पहले कभी अनुभव मे नही आया होता।

सम्यग्दर्शन की अपूर्व ज्योति आत्मा के विचारो पर तो गहरा प्रभाव डालती ही है, व्यवहार मे भी आमूल-चूल परिवर्तन उत्पन्न कर देती है। विचार और आचार में गहरा सम्बन्ध है। आचार, विचार का क्रियात्मक मूर्तरूप है। अतएव जब हमारे विचार मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है तो आचार पर उसका असर न होना असम्भव है।

यह आवश्यक नही कि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होते ही मनुष्य महाव्रत अथवा अणुव्रत अगीकार कर सर्वव्रती या देशव्रती बन ही जाय, तथापि यह निश्चित है कि उसकी जीवनप्रणाली मे, उसके व्यवहार मे, और विशेषत. व्यवहार को प्रेरित करने वाली दृष्टि मे महान् अन्तर आ जाता है।

अध्यात्मवेत्ता मनीषियो ने सम्यग्दृष्टि के जीवन व्यवहार को प्रभावित करने वाले मूलाधारो का वर्गीकरण किया है और उन्हे पाच भागो मे बाट दिया है। वे सम्यग्दर्शन के पाच लक्षण कहलाते है, क्योकि मोटेतौर पर वे सम्यग्दर्शन के अस्तित्व के परिचायक चिन्ह होते है। वे पाँच लक्षण ये है[1]— (१) प्रशम (२) सवेग (३) निर्वेद (४) अनुकम्पा और (५) आस्तिक्य।

(१) प्रशम

आत्मा अनादिकाल से भीतर ही भीतर धधकने वाली कषाय की आग से सतप्त रहता है। मिथ्यात्व दशा मे कषाय जनित सताप अपनी तीव्रतम स्थिति मे होता है। मगर जब मिथ्यात्व का अन्त होता है तो अनन्तानुबधी नामक तीव्रतम कषाय का अन्त हो जाता है और तज्जन्य सताप भी दूर हो जाता है। अन्तरतर में एक प्रकार की अनिर्वचनीय शान्ति की मधुर अनुभूति होने लगती है। आत्मा अपने को शान्त और स्वस्थ अनुभव करने लगता है। सक्षेप मे, यही प्रशम भाव है।

(२) संवेग

भवभ्रमण के प्रति भीति का भाव होना सवेग है। सम्यक्त्वी जीव किसी अन्य भय से भीत नही होता। उसकी रग-रग मे निर्भयता व्यापी रहती है। जीवन का कण-कण और

---

१ धर्म सग्रह अधिकार. २ श्लोक २२।

क्षण-क्षण निर्भयता एव निर्द्वद्वता से ओत प्रोत रहता है। उसके कदम कभी लडखडाते नही। किन्तु पापमयी प्रवृत्ति करते हुए वह हिचकिचाता है, घबराता है, और भयभीत होता है। वह पापभीरु होता है और जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाने से डरता है। आत्मा मे उदित हुई विमल सात्विकता के कारण ही ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। उसका वेग कुमार्ग की ओर से हट जाता है, सासारिक वासनाओ की ओर उसका वेग नही होता और न कपाय की ओर ही होता है। वह बढता है वास्तविक शान्ति की ओर, धर्म की ओर, उसके मुस्तैद कदम सदा मुक्ति के महामार्ग की ओर ही बढते हैं। सक्षेप मे कहा जाय तो मोक्ष की अभिलापा सवेग है।

एक आचार्य ने सवेग की व्याख्या करते हुए इस प्रकार कहा—

तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसा प्रधाने,
देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते;।
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने,
सवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥

अर्थात्—अहिसा प्रधान सत्य धर्म पर, राग-द्वेप-मोह आदि समस्त विकारो से विरहित देव पर और परिग्रहहीन साधु पर अटल अनुराग होना संवेग कहलाता है।

निर्वेद

निर्वेद—सम्यग्दर्शन का तीसरा लक्षण निर्वेद है। सांसारिक विपयभोगो के प्रति, फिर चाहे वे मानुषिक हो या दैवी, विरक्ति का भाव होना निर्वेद है। सम्यग्दृष्टि के चित्त मे परमानन्दमय आत्म-स्वरूप के प्रति इतना उग्र आकर्षण उत्पन्न हो जाता है कि ससार के उत्तम से उत्तम काम-भोग भी उसे अपनी ओर आकर्पित नही कर सकते। मानव समूह मे चक्रवर्त्ती सम्राट् के और देवो में इन्द्र के

भोगोपभोग सर्वोत्तम समझे जाते हैं और वडे-वडे घोर तपस्वी भी, जिन्हे कि सम्यक्त्व का लाभ नही हुआ है, इनकी कामना करते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव, भले ही वह तपस्वी एव त्यागी न वना हो, इनके प्रलोभन में नही पडता। उसे यह काम-भोग नीरस, दु ख के हेतु, आकुलता वढाने वाले और जन्म-मरण की परम्परा के निमित्त रूप ही प्रतीत होते हैं। वह विपयो का उपभोग करता हुआ भी उन मे आसक्त, तन्मय, तल्लीन एव तच्चित्त नही होता। कमलपत्रवत् निर्लेप रहता है। कमल कीचड मे उत्पन्न होता है और जलपरिपूर्ण सरोवर मे स्थित रहता है, तथापि वह जल और कीचड से अलिप्त रहता है। कमल के पत्तो पर से पानी वह जाय तो भी चिकनाहट के कारण उन पर ठहरता नही—

जहा पोम्म जले जायं,
नोव लिप्पइ वारिणा।

—उत्तरा अध्य. २५ गा २७

सम्यग्दृष्टि की आन्तरिक स्थिति भी इसी प्रकार की होती है। वह ससार मे रहता हुआ भी ससार से प्रतीत सा रहता है।

नाटक का एक पात्र राजा का अभिनय करता है। वह युद्ध करता है, युद्ध मे पराजित होने पर खेद का प्रदर्शन करता है प्रसन्नता के अवसर पर प्रसन्नता प्रकट करने मे किसी राजा से कम नही ठहरता उसकी वेप-भूषा और भाषा, सव राजा की ही तरह होती है, मगर क्या वह अपने अन्तस मे यह नही समझता कि मैं राजा नही, सिर्फ राजा का अभिनय कर रहा हूँ ? सम्यग्दृष्टि भी अपने गृहस्थ जीवन के क्षेत्र मे विविध प्रकार के अभिनय करता है दु ख-सुख के प्रसगो मे दुखी एव सुखी होता है, फिर भी अन्तर से अलिप्त

ही रहता है। ससार का तीव्र से तीव्र एव मोहक से मोहक प्रलोभन भी उसकी अलिप्तता को चुनौती नही दे सकता।

'योगविन्दु' मे आचार्यप्रवर हरिभद्र ने सम्यग्दृष्टि के सवध मे, कहा है—

मोक्षे चित, तनुर्भवे।

सम्यग्दृष्टि का मन मोक्ष में और तन संसार मे होता है। कितना सक्षिप्त, सुन्दर और सारगर्भित चित्रण है। सम्यग्दृष्टि का हूवहू चित्र ही चार अक्षरो मे अकित कर दिया है! वास्तव में सम्यग्दृष्टि की मनोवृत्ति ससारातीत होती है। जैसे गाय का ध्यान वछडे की ओर तथा पनिहारी का ध्यान मस्तक पर रक्खे हुए घट की ओर वरावर वना रहता है, उसी प्रकार ससार व्यवहार में व्यापृत रहता हुआ भी सम्यग्दृष्टि अपनी सूक्ष्म एव आन्तरिक दृष्टि मुक्ति पर ही गडाये रहता है।

सम्यग्दृष्टि संसार मे उसी प्रकार रहता है जैसे विभीषण लका में रहता था। कहते है एक वार भक्त प्रवर हनुमान ने विभीषण से पूछा—वन्धुवर, आप यहाँ किस प्रकार रहते है? विभीषण वोले—

सुनहु पवनसुत! रहनि हमारी,
जिमि दसनन बिच जोभ बिचारी।

—रामचरित मानस

जैसे वत्तीस दाँतो के वीच जीभ को सदा सतर्क और सावधान रहना पडता है, उसी प्रकार मुझे यहाँ रहना पड़ता है।

एक उर्दू शायर ने अलिप्त मानस का जो चित्रण किया है, सम्यग्दृष्टि के सबध मे, वह पूरी तरह घटित होता है—

लाई हयात आए, कजा ले चली, चले,
अपनी खुशी न आए, न अपनी खुशी चले।
बेहतर तो यही कि न दुनिया से दिल लगे,
पर क्या करे जो कामना बेदिल्लगी चले॥

—उर्दू शायरी

आशय यह है कि—ज़िन्दगी हमे इस दुनियां मे लाई तो आ गये, मौत जब ले गई तो चल दिये। हम अपनी इच्छा से न जन्मना चाहते है, न मरना चाहते है। जन्म-मरण की इस लबी शृ खला से बंधा रहना हमें पसद नही। उत्तम तो यही है कि ससार मे रहते भी ससार मे मन न लगे, मगर करे क्या, जब ससार में बैठे है तो सासारिक मानवो से प्रेम करना ही पड़ता है। व्यवहार-साधन किये बिना कैसे काम चल सकता है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, दोनो ही संसार के भोगोपभोगो का उपभोग करते है, किन्तु दोनो के उपभोग मे महान् अन्तर होता है। उसे मोटे रूप मे इस प्रकार प्रकट कर सकते है—भ्रमर सौरभमय सुमनो पर मडराता है, आलीन होता है, उनका रसास्वादन करता है, मगर फूलो का ही नही हो रहता। वह जब उडने की इच्छा करता है, तभी उड जाता है। कोई 'बन्धन' उसने अपने लिए निर्माण नही किया है। मगर श्लेष्म पर बैठने वाली मक्खी की बात निराली है। वह उसमे ऐसी फँस जाती है कि उडने की इच्छा हो तो भी उड नहीं सकती। वह अपनी ज़िन्दगी वही समाप्त कर देती है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि का भोग भ्रमर के समान है तो मिथ्यादृष्टि का मक्खी के समान। सम्यग्दृष्टि दुःखो-सकटो के थपेड़ो से घबराता नही और न सुख की लोल लहरो मे अपने जीवन को विनष्ट करता है। वह फूल तथा शूल मे, मित्र तथा शत्रु मे और इष्ट तथा अनिष्ट मे समबुद्धि अनुभव करता है।

सहस्रो वर्षो तक जल के तल मे निमग्न रहने पर भी स्वर्ण पर काई नही चढती। इसी प्रकार सासारिक दायित्वो को निभाने और चिरकाल तक गार्हस्थ्य मे रहने पर भी सम्यग्दृष्टि पाप से लिप्त नही होता। इसी से शास्त्रकार कहते है—

सम्मत्तदंसी न करेई पावं।

सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कपाय से प्रेरित पाप नही करता और न पापाचरण की आन्तरिक रुचि ही होती है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि की अन्तरात्मा मे जो निर्लेपवृत्ति उदित होती है, उसे निर्वेदभाव की संज्ञा प्रदान की गई है

अनुकम्पा

(४) अनुकम्पा— दुखी प्राणी का अवलोकन कर हृदय में कम्पन्न होना और तदर्थ दु ख मुक्ति की भावना अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि जीव का चित्त ऐसा सात्विक और सुकोमल बन जाता है कि वह दूसरे को दु खमय स्थिति मे देख कर आँखे नही मू द सकता। वह उस दु ख को दूर करने की भरसक चेष्टा करता है। वह प्राणि-मात्र में मैत्री और बन्धुभाव को साकार देखता है। 'मित्ती मे सव्व-भूएसु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उदार स्वर उसके अन्तर्मानस मे सतत झंकृत होता रहता है। कभी किसी प्राणी को कष्ट में देखता है तो उसके तन, मन और नयन आकुल-व्याकुल हो उठते है। वह

विकल और विह्वल होकर उसके निवारण के लिए अपना समस्त सामर्थ्य समर्पित कर देता है। उसके लिए अपना दु ख उपेक्षणीय हो सकता है, अन्य का नही। वह अपने प्रति वज्र-सा कठोर होकर भी पर के प्रति कुसुम-सा कोमल होता है। एक कपोत की प्राण रक्षा के लिए अपने अग-अग को काट-काट कर अर्पित करने वाले मूर्धन्य महाराजा मेघरथ की गरिमामयी गाथा सम्यग्दृष्टि की आन्तरिक मनोभावना को समझने मे बहुत सहायक हो सकती है। क्या रिश्ता था कबूतर के साथ मेघरथ का? फिर वह कौन-सी भावना थी, जिससे प्रेरित होकर वह अपने शरीर की आहुती देने को तैयार हो गया?

और, उन प्रात स्मरणीय महामुनि धर्मरुचि[1] की गौरवमयी गाथा, सहस्रो वर्षो के वाद, आज भी हमारे हृदय को आलोडित कर देती है। जिन्होने अनुकम्पा की पावन वेदिका पर अपने प्राणो की वलि दी थी।

भगवान् भास्कर अपनी प्रखर रश्मियो के साथ व्योम पर आधिपत्य स्थापित कर अठखेलियाँ कर रहा था। चारो ओर भीष्म ग्रीष्म की उष्णता का निष्कटक साम्राज्य था। भूतल तवे की तरह तप्त हो रहा था।

एक महामुनि नीची निगाह किये चले जा रहे थे। कृशकाय मगर दमकता हुआ चेहरा! विशाल भाल, गौरवपूर्ण उज्ज्वल नयन जिन से करुणा की स्रोतस्विनी प्रवाहित हो रही थी। गभीर और प्रशान्त मुद्रा। उन्हे देख नागरिक आश्चर्यान्वित हो रहे थे—यह क्या, एक दिनकर आकाश मे है, दूसरा पृथ्वी पर कहाँ से आ गया?

---

[1] ज्ञातृधर्म कथा, अध्य. १६

वह महाश्रमण शनैः शनैः शालीनतामयी गति से, मौन भाव से पथ पर अग्रसर हो रहा था। सहसा एक भव्य-भवन के द्वार पर स्थित एक रमणी ने आवाज लगाई--महाराज, अनुग्रह कीजिए। आहार विशुद्ध है।

श्रमण पहुँचे भोजनालय के निकट। रमणी का कर-कमल शाक-पात्र से सुशोभित था। मुनि ने अपना पात्र पसारा और रमणी ने, किसी अज्ञात आकुलता के साथ, पात्र का सारा ही शाक मुनि के पात्र मे उँडेल दिया। मुनि 'बस-बस' कहते रहे, मगर उसे सुनने का अवकाश ही कहाँ था।

मुनि उस दिन शाक ही लेकर लौट पडे अपने गुरुदेव के श्री चरणो मे।

गुरुदेव को आहार दिखलाया। उन्होने खेद के साथ मुनि के चेहरे की ओर देखते हुए कहा देवानुप्रिय! मासक्षमण की दीर्घ तपस्या के पारणा में केवल शाक ही!

मुनि गभीर स्मित पूर्वक बोले--भते! वह बहिन मानी ही नही। उसने सारा शाक दे दिया। यही इतना हो गया कि दूसरे आहार की आवश्यकता ही नही रही।

श्रमण ने अपनी प्रशस्त परम्परा के अनुसार गुरुदेव को आमन्त्रित किया आहार ग्रहण करने के लिए, आमन्त्रण को अगीकार करके अथवा सहसा उदित हुई किसी आशका से प्रेरित होकर आचार्य ने शाक का एक कण मुख में डाला और फिर अपने प्रिय अन्तेवासी से कहा--वत्स, यह क्या लाया है? यह तो गरल है हलाहल है।

गुरुदेव ने शिष्य को आदेश दिया--इस आहार को ऐसे स्थान पर परठ दो कि किसी जीव की हिंसा न हो।

मास-तपस्वी पुन पात्र लेकर चल पड़ा वनप्रदेश की ओर। मुख-कमल मुरझा रहा था ग्रीष्म के दुस्साह् ताप में, किन्तु वह योगी चला जा रहा था ऐसी निर्जीव भूमि की तलाश मे, जहाँ शाक परठने से किसी जीव को आघात न पहुँचे।

एक स्वच्छ स्थान दिखलाई दिया, प्राणियो से रहित। एक कण आहार का डाला भूमि पर और वही बैठ कर देखने लगे—कोई जीव जन्तु तो नही आता है इसे खाने के लिए। मगर तीव्रघ्राण चीटियाँ शाक की गध से प्रेरित हो उमडने लगी, मानो हलाहल शाक के रूप में मृत्यु उन्हे आह्वान कर रही थी।

अपने ऊपर आये उपसर्गो और परिषहो से कभी न हिलने वाला मुनि का दिल इस दृश्य को देख कर दहल उठा। मै अपनी प्राण-रक्षा के लिए इन असख्य जीवनधारियो के सहार का कारण बनूँ!

करुणा सागर का अन्त करण करुणा की तरल तरगो से तरगित होने लगा। अनुकम्पा की परम भावना हृदय मे ठाठें मारने लगी। सोचा— गुरुदेव का आदेश है जहाँ परठने से किसी जीव की हिंसा न हो, वहाँ शाक परठा जाय। ऐसा स्थान मेरे उदर के अतिरिक्त और कोई नही दीखता। बस, उन्होने पात्र उठाया और जीव रक्षा के पवित्र विचार से, उस हलाहल को गले के नीचे उतार लिया।

वह थे धर्मरुचि अनगार जो जीवरक्षा के लिए सदा मूर्तिमान आदर्श रहेगे।

एक विचारक अगरेज कहता है— 'तू अपना सुख पीछे देख प्रथम दूसरे के सुख का विचार कर।'

एक वार सन्तहृदय तुकाराम ने भी कहा था– 'यह शरीर स्वर्ण कलश के सदृश है, इसमें विलास की शराव न भरो, अनुकम्पा का अमी रस भर कर इस स्वर्ण कलश की शोभा वढाओ।'

जिसके हृदय में इस प्रकार की अनुकम्पा अठखेलियाँ करती है, समझ लीजिए वही अपने जीवन को उत्थान के महापथ पर अग्रसर कर रहा है।

सम्यग्दृष्टि में स्वभावत. अनुकम्पा का अक्षय स्रोत फूट पड़ता है और वह प्राणियो के आर्तिनाश को ही अपने जीवन का महान् लक्ष्य वना लेता है। कवि कहता है—

न त्वह कामये राज्यं, न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दु:खतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

मुझे राज्य नही चाहिये, वह विलास और अभिमान की दुर्वृत्ति उत्पन्न करता है। मुझे स्वर्ग नही चाहिये, वह गाठ के पुण्य के क्षय का स्थान है, वहाँ धर्म पुण्य का सचय नही हो सकता। मुझे पुनर्भव की भी कामना नही, उससे बन्धनो की वृद्धि ही हो सकती है। मेरी एक ही कामना और एक ही अभिलाषा है— प्राणियो की पीडा का नाश करू। जहाँ कही कोई दुखी, सकटग्रस्त और पीडित प्राणी दृष्टिगोचर हो, मैं उसे उवार सकूँ— दु:ख से मुक्त कर सकूँ, उसके हृदय के घाव पर मलहम लगा सकूँ।

इसे कहते है अनुकम्पा। अनुकम्पा सम्यक्त्व की कसौटी है। जिस आत्मा मे सम्यग्दर्शन का आविर्भाव हुआ है, उसमे अनुकम्पा का आविर्भाव अवश्यभावी है। जहाँ अनुकम्पा नही वहाँ सम्यग्दर्शन का अस्तित्व नही।

आस्तिक्य

(५) आस्तिक्य— सम्यग्दर्शन का पाचवाँ और अन्तिम लक्षण आस्तिक्य है। आस्तिक और नास्तिक शब्दो के प्रयोग और अर्थ के सम्बन्ध मे भारत के दार्शनिक क्षेत्र मे पुराने समय से ही गहरे मतभेद रहे है। जब हम अतीत की गहराई मे पैठ कर देखते है तो यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है कि इन शब्दो के साथ किस प्रकार खिलवाड किया गया है, कैसी आंखमिचौनी की गई है और किस प्रकार इन शब्दो की छीछालेदर की गई है। 'नास्तिक' शब्द एक अभिमत विशेष का वाचक न रहा और मानो गाली का वाचक बन गया। जिस किसी ने भी चाहा, अपने से किसी बात मे मेल न खाने वाले समूह को 'नास्तिक' पदवी से विभूषित करके कृतार्थता का अनुभव किया। किसी मत या व्यक्ति को हलके से हलका और तुच्छ से तुच्छ दिखलाने के लिये 'नास्तिक' शब्द सर्वाधिक उपयुक्त माना गया। एक ने आविष्कार किया- वेद को अपौरुषेय और ईश्वरीय ज्ञान मानने वाला आस्तिक और न मानने वाला नास्तिक है। दूसरे ने कल्पना की, मन्दिर-मूर्ति को भगवान् मानने वाला आस्तिक, न मानने वाला नास्तिक। तीसरे ने कहा— अमुक व्यक्ति को आराध्य मानने वाला आस्तिक और न मानने वाला नास्तिक। इस प्रकार प्राय प्रत्येक पन्थ के अनुयायी अपने को आस्तिक और दूसरो को नास्तिक मानते है। परिणाम यह है कि आज आस्तिक और नास्तिक शब्दो का मानो कोई नियत अर्थ ही नही रह गया है और यदि कुछ अर्थ है भी तो वह बोलने वाले की इच्छा पर ही शत प्रतिशत निर्भर है।

नास्तिकता का आधार

यह सब पाथिक सकीर्णता और साम्प्रदायिक व्यामोह का फल है। इस सकीर्णता और व्यामोह के कारण इतर सम्प्रदायो के लिये

कटुक से कटुक शब्दो का प्रयोग किया गया है। धर्मान्ध लोग कहते है कि दूसरे सर्वथा मृषाभाषी है, पाखण्डी है, ढोगी है, म्लेच्छ है, काफिर है, धर्म का ठेका तो बस हमने ही ले रक्खा है। मुक्ति की चावी हमारे पास ही है। जो हमारे विचारो से सहमत नही, वह नास्तिक है।

लेकिन जो जिज्ञासु है और सत्य को ही सर्वोपरि मानता है और अपने कदाग्रह के पक से सत्य को पकिल नही बनाना चाहता, वह तो वास्तविकता का ही विचार करेगा और देखेगा कि शब्द शास्त्र 'आस्तिक' और 'नास्तिक' शब्दो के अर्थ के विषय मे क्या निर्णय देता है ?

आस्तिक और नास्तिक शब्द सस्कृत भाषा के है, अतएव सस्कृत व्याकरण से ही उनके अर्थ की वास्तविकता का पता लग सकता है।

संस्कृत व्याकरण के प्रौढ आचार्य पाणिनि अपने अष्टाध्यायी ग्रन्थ मे कहते है -

अस्ति–नास्ति–दिष्ट मति.।

—अ० ४ पाद० ४ सू० ६०

भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी में इसका अर्थ किया है—'अस्ति परलोक इत्येव मतिर्यस्य स आस्तिक:, नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिक' अर्थात् जो निश्चित रूप से परलोक पुनर्जन्म स्वीकार करता है, वह आस्तिक है और जो उसे नही अंगीकार करता, वह नास्तिक है।

आस्तिक और नास्तिक शब्दो की निष्पत्ति 'अस्ति' और 'नास्ति' शब्द से हुई है। 'अस्ति' शब्द सत्ता का वाचक और 'नास्ति' शब्द निषेध वाचक है। जो पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म और इस प्रकार

आत्मा के नित्यत्व पर विश्वास करता है, वह आस्तिक है, भले ही वह किसी मत की किसी पोथी को प्रमाणभूत स्वीकार करे या न करे। सच्चा आस्तिक आत्मा के सम्बन्ध मे सतत चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करता है और सोचता है— मै क्या हूँ ? कहाँ से आया और इस चोले को त्याग कर कहाँ जाऊँगा। मेरी इस चिर यात्रा की विश्रान्ति कहाँ होने वाली है ? मेरा प्राप्य क्या है, इत्यादि।

श्रमण भगवान् महावीर का महान् एव गम्भीर घोष जिसके कर्ण-कुहरो मे सतत गू जता रहता है कि—

'अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए ? के अह आसी ? के वा इओ चुए, इह पेच्चा भविस्सामि।'

—आचाराग १, सू० ३

वही वास्तव मे आस्तिक है। जिस की विचारधारा इससे विपरीत दिशा मे वहती है, जो आत्मा, पुण्य पाप, परलोक आदि के अस्तित्व से इन्कार करता है, वह नास्तिक है। 'वर्तमानदृष्टिपरो हि नास्तिक' कह कर भारतीय आचार्य ने नास्तिक की पक्षपातहीन परिभाषा की है।

तो सम्यग्दृष्टि आत्मा में आस्तिकता का गहरा भाव होता है। वह भूत और भविष्यत् स्थिति को भुलाकर केवल वर्तमान को ही दृष्टि के सन्मुख नही रखता किन्तु अपनी त्रैकालिक अखण्ड सत्ता को अनुभव करता है।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होने पर ये पाँच प्रकार की विचार-धाराएँ, जिन्हे पाँच लक्षण कहा गया है, आत्मा मे अवश्य उत्पन्न हो जाती हैं।

★★

दर्शनाचार

पास ही रे हीरे की खान

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, ससार का प्रत्येक प्राणी सुख का अभिलाषी है, किन्तु ससार दुःखो का आकर है। जिस ओर भी दृष्टि पसार कर देखते है, दुःख, सन्ताप और अशान्ति के काले-कजराले बादल ही मडराते हुए दृष्टिगोचर होते है। सुमेरु तुल्य दु ख के अन्तराल में कदाचित् राई जितना सुख है भी तो वह भी शहद-लपेटी तलवार की धार को चाटने के समान है। उसका परिणाम भयानक अशान्ति एवं दुःख के रूप मे सामने आता है।

किसके चित्त में शान्ति है ? किसके मन में सन्तुष्टि है ? कौन निराकुलता का अमृत पान कर रहा है ? जो निर्धन और दरिद्र है, वे अर्थाभाव मे पीड़ा का अनुभव कर रहे है। धनवान् अपने से अधिक धनी को देख कर ईर्षा की ज्वालाओ में दग्ध हो रहा है, तृष्णा की तरगो मे डूब-उतरा रहा है। किसी में ईर्षा और तृष्णा नही है तो वह धन के क्षीण हो जाने की कल्पना और तज्जनित भीति से व्याकुल है। मनुष्य को मनुष्य से भय है। साराश, समस्त ससार दु ख से परिपूर्ण है और कही भी सुख की उज्ज्वल किरण नजर नहीं आती। सन्त रामदास ने सत्य ही कहा है— 'मूर्खामाजी परम मूर्ख, जो ससारी मानी सुख।' अर्थात् जो ससार मे सुख मानता है, वह

मूर्खो मे भी परम मूर्ख है। वास्तव में ससार में दुःख इतना स्थूल है कि वह मूर्ख से मूर्ख मनुष्य की दृष्टि से भी छिपा नही रह सकता। मगर जो उसे भी नही देख पाता या सुख के रूप मे देखता है, उसके लिए किस शब्द की खोज की जाय ? क्या काजल की कालिमा को दिखलाने की आवश्यकता है ? आप नही देखते— कोई रोग से आक्रान्त हो कर कराह रहा है। कोई पत्नी, पुत्र आदि प्रियजनो की विरह वेदना का दुस्सह भार वहन करता हुआ व्यथित हो रहा है। कोई अनिष्ट सयोग से छुटकारा पाने के लिए छटपटा रहा है। किसी को भूख निगल जाना चाहती है। फिर जन्म - जरा - मरण की भीति तलवार के समान सभी की गर्दन पर लटक रही है। इस प्रकार चारो ओर दुःखो की, कष्टो की व्यथाओ की और वेदनाओ की प्रचण्ड ज्वालाएँ धधक रही है। प्राणी मात्र उन ज्वालाओ में झुलस रहा है। कहाँ है शान्ति ? कहाँ है सुख ?

हमे जो भी मिलता है, अपने दु ख की रामकहानी कहता हुआ मिलता है। सबके अपने-अपने दुखडे है। सबका अपना-अपना रोना है। कोई तन के लिए, कोई जन के लिए तो कोई धन के लिए कलप रहा है। कोई अतीत के लिए विसूर रहा है तो कोई भविष्य के पुल बांधने के लिए दिन-रात पच रहा है। दृढता के साथ कौन कहता है कि मै पूर्णरूपेण सुखी हूँ।

जब तक बाह्य पदार्थों मे सुख की कल्पना है, इन्द्रियो के विषय-भोग सुख के साधन समझे जा रहे है तब तक सुख की प्राप्ति होना सम्भव भी नही है। अपथ्य को पथ्य मान कर सेवन करने वाला कैसे स्वस्थ हो सकता है ? वास्तविक सुख का अक्षय भण्डार आत्मा मे ही है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि निराला ने कहा है—

पास ही रे हीरे की खान,
खोजता उसे कहाँ नादान।

मानव ! सुख चाहता है तो उसकी वही तलाश कर जहाँ वह प्राप्त हो सकता है। सुख की खान आत्मा है, आप है, स्वय तू है। पर तेरी नज़र तो बाहर की ओर है और सुख भीतर है। फिर कैसे तुझे सुख की प्राप्ति होगी।

सुख चाहिये तो ज्ञानियो के ज्ञानालोक में देख। अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी बना। अपने आपको टटोल। वही तुझे सुख का अपार सागर लहराता हुआ दिखाई देगा। उसमे अवगाहन करने से तेरा अनादिकालीन सन्ताप सदा के लिए शान्त हो जाएगा। तेरी तृषा अनन्त-अनन्त काल के लिए तृप्त हो जाएगी।

जब आत्मा पर-पदार्थों से पराङ्मुख होकर, भौतिकवाद की चकाचौंध से अपनी दृष्टि हटा कर, अपने आप मे गोते लगाता है, स्व-स्वरूप मे निमग्न होता है, उस समय उसे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। वह सुख स्वर्ण सिहासन पर आसीन होकर सहस्रो सामतो को उगली के इशारे पर नचाने वाले सम्राट् के भी भाग्य मे नही है। स्वर्ग के स्वामी देवराज देवेन्द्र को भी नसीब नही हो सकता। वह सुख अपूर्व, अद्भुत, अनुपम और अनिर्वचनीय होता है। वह सुख कवि की कल्पना से अतीत है। लेखक की लेखनी मे समा नही सकता। व्याख्याता उसे वाणी के माध्यम से व्यक्त नही कर सकता।

मगर इस प्रकार के सुख की उपलब्धि का मूल साधन सम्यग्दर्शन ही है। सम्यक्त्व के अभाव मे न अन्तश्चक्षु खुलते है और न इस सुख का समास्वादन ही किया जा सकता है। यही कारण है कि जिन शासन में सम्यग्दर्शन की मुक्त कठ से महिमा गाई गई है।

आठ अंग

सम्यग्दर्शन के आठ अग या आचार है[1] जिनसे सम्यग्दर्शन का पालन, सरक्षण और संवर्द्धन होता है। शास्त्र में कहा है—

---

[1] पन्नवणा पद १, सूत्र ३७, गाथा १२८।

निस्संकिय - निक्कंखिय-
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह - थिरीकरणे,
वच्छल्ल - पभावणा अट्ठ ॥
—उत्तराध्ययन २८, ३१

सम्यग्दर्शन के आठ आचार है–(१) निश्शकता (२) निष्कांक्षता (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टित्व (५) उपबृंहण (६) स्थिरीकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना ।

आठ अगो मे सम्पूर्ण शरीर का समावेश हो जाता है, या यो कहा जाय कि आठ अगो मे शरीर अन्तर्निहित है, उसी प्रकार इन आठ अगो में सम्यग्दर्शन निहित है । जैसे शरीर के स्वास्थ्य के लिए उसके आठो अगो की सार-सम्भाल आवश्यक है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन को अविकृत रखने के लिए इन आठो अंगो का सरक्षण अनिवार्य है ।

यहाँ इन आठो अगो का संक्षिप्त दिग्दर्शन कर लेना उपयोगी होगा ।

निश्शंकता

निश्शकता - यह सम्यक्त्व का प्रथम अग है । निश्शकता का अर्थ है– सर्वज्ञ एव वीतराग द्वारा प्ररूपित सत्य तथ्य तत्त्व के विषय मे शका न रखना, पूर्ण श्रद्धा रखना ।

श्रद्धा एव विश्वास के विना जीवन का विकास नही होता । हजारो-लाखो वर्षों तक उग्रतर तपश्चरण एवं साधना करने पर भी जीवन मे तनिक भी परिवर्तन नही होता, अतएव श्रद्धाविहीन साधना

किञ्चिन्मात्र भी मूल्य नही रखती। धर्मसग्रह में श्रीमानविजयजी कहते है—

जिनोक्ततत्त्वेषु रुचिः श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते

जिनोक्त तत्त्वो पर अटल विश्वास होना श्रद्धा है और श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है, सम्यक्त्व है।

जीवन में सत्य के प्रति प्रगाढ आस्था व रुचि न हुई तो सत्य के प्रति अभिमुखता एव निष्ठा भी सम्भव नही है। सत्यनिष्ठा से जीवन में मगलमय आलोक की किरणें स्फुरित होती है और उस आलोक में विचरण करने का अपूर्व बल भी मिलता है। सत्य निष्ठा मानव के जीवन को सत्यमय बना देती है, क्योकि श्रद्धा के साचे में ही जीवन ढलता है —

श्रद्धामयोऽयं पुरुष,
यो यच्छ्रद्धःस एवसः।

—गीता।

सृष्टि नाना रुप है। इसमें अनेक तत्त्व स्थूल है तो अनेक ऐसे भी है जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से साधारण मानव बुद्धि की पकड़ में नही आते। वे निगूढ तत्त्व रहस्यमय ही रहे और रहेगे। हमारी बुद्धि का मन्द प्रकाश प्रदीप उन्हे प्रकाशित नही कर पाता, तर्क के तीक्ष्ण तीर उन्हे वेध नही सकते। उन्हे अतिशय ज्ञानी आप्त पुरुषो ने जाना और अनुग्रह करके प्रकाशित किया। हमें उनके साधना प्रसूत ज्ञान वैभव का लाभ उठाना चाहिए। लौकिक विषयो में यदि तत्तद् विषय के विशेषज्ञ श्रद्धापात्र समझे जा सकते हैं तो कोई कारण नही कि लोकोत्तर विषयो मे चिरकालीन मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा जिन्होने अलौकिक ज्ञान प्राप्त किया है, उन पर विश्वास न किया जाय।

अलवत्ता, श्रद्धा जमाने से पूर्व हमे अपनी प्रज्ञा से निर्णय कर लेना होगा कि अपनी श्रद्धा का भाजन किसे वनाया जाय ? जिसमे समीचीन ज्ञान है और जो अपने राग-द्वेष आदि आन्तरिक विकारो पर विजय प्राप्त कर चुका है, सक्षेप में, जो पूर्ण ज्ञानी और जिन है, वीतरागी हैं, उस पर श्रद्धा करने से किसी भी प्रकार प्रतारित या वचित होने का खतरा नही है। निर्वल को सवल और साथ ही प्रामाणिक आप्त पुरुप का आसरा लेना ही चाहिए।

इस प्रकार निर्णय कर लेने के पश्चात् जिनोक्त तत्त्व पर प्रगाढ और अनन्य आस्था स्थापित कर लेना और किसी भी प्रकार का प्रलोभन या सकट सामने होने पर भी अडिग रहना निश्शंकित अग है। यही तथ्य आगम मे कहा गया है—

तमेव सच्च णीसकं,
ज जिणेहिं पवेइय।

आचा० अ० ५, उ० ५, सू० १६३

वही सत्य है और वही असदिग्ध है, जो जिन भगवन्तो ने आदिष्ट किया है।

पूर्वोक्त प्रज्ञा पूर्वक की जाने वाली श्रद्धा ही सच्ची श्रद्धा है। जिस श्रद्धा के साथ प्रज्ञा का प्रकाश नही होता, वह अन्ध श्रद्धा कहलाती है। अन्ध श्रद्धा मे जागृति नही, स्फूर्ति नही, चेतना नहीं होती। उसमें स्थिरता की सम्भावनाए कम होती हैं और कदाचित् स्थिरता रही भी तो वह जीवन के कल्याण को महामार्ग की ओर नही वढने देती। वह पीछे धकेलती है। अन्ध श्रद्धा का ही परिणाम है कि हमारी और आपकी आत्मा अभी तक जन्म मरण के अनवरत प्रवाह से वाहर नही निकल सकी है।

भूगर्भ शास्त्री कहते हैं- हीरा और कोयला दोनो एक ही वस्तु की परिणतियाँ है। किन्तु दोनो में कितना अन्तर है ? एक काला और दूसरा चमकता हुआ। कोयले के स्पर्श से हाथ भी काला हो जाता है, मगर हीरा अपनी उज्ज्वल किरणें चहुँ ओर विखेरता है। इसी प्रकार श्रद्धा की एक परिणति-अन्ध श्रद्धा जीवन में कालुष्य भर देती है, जब कि दूसरी परिणति सत्य श्रद्धा जीवन को चमकदार बनाती है।

अन्ध श्रद्धा से ही प्रेरित होकर तापस कमठ, गगा तीर पर पंचाग्नि तप तप रहा था। उसे देख कर भगवान् पार्श्वनाथ ने कहा था- तापस, यह अन्ध श्रद्धा है। यह तुझे भी डुवाएगी और दूसरों को भी डुवाएगी।

अभिप्राय यह है कि अन्ध श्रद्धा में विवेक का अभाव होता है और जहाँ विवेक नही वहाँ धर्म कहाँ ? श्रद्धा विवेक की सुपुत्री है। विवेक की छाया मे ही श्रद्धा परिपुष्ट होती है। इस प्रकार की विवेकपूत समीचीन श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन का प्रथम अंग है।

निष्कांक्षता

भौतिक वैभव से आकृष्ट होकर मनुष्य सत्य सकल्प से पराङ्मुख हो जाता है और उसकी चकाचौंध में उसे सही साधना मार्ग तक नही सूझता। सासारिक सुख सौन्दर्य का प्रलोभन मानव की मानस भूमि पर बलात् अधिकार जमा लेता है और वह उसका सवरण करने में अक्षम हो जाता है। मोह माया और ममता के बन्धनो मे आबद्ध होकर आत्मधर्म से च्युत भौतिक भावो को अपनाने की इच्छा करने लगता है।

ऐसा मनुष्य कदाचित् गृह त्यागी या तपस्वी हुआ तो उसकी तपस्या या साधना का लक्ष्य भी भौतिक वैभव, ऐहिक चमत्कार और स्वर्गादि के पारलौकिक सुख होते है। यही जैन दर्शन की परिभाषा मे कांक्षा है। सम्यग्दृष्टि मे इस प्रकार की कांक्षा नही होती। उसे आत्मस्वरूप की संवित्ति और सम्प्राप्ति के सिवाय सभी कुछ निस्सार एवं हेय प्रतीत होता है। वह स्वकीय आनन्दमय परमात्मस्वरूप में ऐसा निष्ठावान बन जाता है कि किसी भी परभाव में उसकी रुचि नही रह जाती।

निर्विचिकित्सा

शुद्ध स्वात्मोपलब्धि ही साधक की साधना का एक मात्र लक्ष्य होता है। आत्मस्वरूप को आच्छादित करने वाले आवरणो का निराकरण और निवारण करने से ही आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है। वह बाह्य सिद्धियो के लिए साधना नही करता। विश्व की समग्र सिद्धियाँ सम्यक् साधना के प्रभाव से उसके चरण चूमने के लिए सदा लालायित रहती हैं, किन्तु यथार्थदर्शी साधक के समक्ष वे तुच्छ है, निस्सार है, धूलिकण से बढकर उनका मूल्य नही है।

चिन्तामणि के बदले कौन कोयला लेना पसन्द करेगा ? कदाचित् कोई पसन्द करता है तो उसे विवेकवान नही कहा जा सकता। उसे वज्र मूर्ख ही कहना चाहिए। लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करने के उद्देश्य से साधना करना चिन्तामणि के बदले कोयला खरीदना है।

कृषक धान्य के लिये कृषि कर्म करता है, भूसा और घास के लिये नही। वह तो धान्य के साथ आनुषंगिक फल के रूप मे, अनायास ही प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार साधना के आनुषंगिक फल के रूप मे लौकिक सिद्धिया स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।

वहुत से लोग साधना मे प्रवृत्त हो जाते है, मगर उसके फल के विषय मे सन्देहशील रहते है। शका का शकु उनके हृदय मे सदैव सालता रहता है। शका के कारण साधना वलवती नही वन पाती। निर्वल एव अधूरे मन से, लडखड़ाती हुई भावना से की जाने वाली कोई भी साधना सफलता नही प्राप्त कर सकती।

'मैं जो धर्मक्रिया कर रहा हूँ, उसका फल मिलेगा या नही ! मेरा यह कष्टसाध्य अनुष्ठान निरर्थक तो नही चला जाएगा।' इस प्रकार की आशका 'विचिकित्सा' कहलाती है। इसका न होना 'निर्विचिकित्सा' है।

साधक को प्रतीति होनी चाहिये कि क्रिया और फल का अविनाभाव अखण्डित है। क्रिया की जायेगी तो उसका फल अवश्यंभावी है। हो सकता है कि किसी क्रिया के लिये अपेक्षित साधन-सामग्री अविकल न हो या पर्याप्त वलवान् न हो और इस कारण यथेष्ट फल दिखलाई न पड़े, तथापि कारण के अनुरूप कार्य की निष्पत्ति का सिद्धान्त इससे वाधित नही होता। साधना जितनी सवल होगी, अभिलाषा न करने पर भी उसका उतना फल अवश्य होगा। अतएव क्रिया के फल मे सन्देह करने का कोई कारण नही। इस प्रकार का सन्देह न होना ही निर्विचिकित्सा है।

निर्विचिकित्सा का दूसरा अर्थ है—सयमपरायण मुनियो के शरीर या वेष को देख कर ग्लानि न करना। सच्चा मुनि देहाध्यास से रहित होने के कारण शारीरिक परिकर्म से भी रहित होता है। वह देह में स्थित होकर भी मानो उससे पृथक् है। शास्त्र कहता है-

अवि अप्पणो वि देहमि नायरंति ममाइय।

मुनि के मन मे अपने देह के प्रति भी ममत्व नही रहता। ऐसी स्थिति मे कदाचित् उनके देह या वस्त्रादि उपकरण मे मलीनता दृष्टिगोचर हो तो उसकी ओर लक्ष्य न देना, घृणा भाव उत्पन्न न होना भी निर्विचिकित्सा है। मुनि के सद्गुणो पर ही दृष्टि जानी चाहिए और उन्ही से प्रेम करना चाहिए, उन्ही की उपासना करना चाहिए।

अध्यात्म जगत् मे पौद्गलिक सौन्दर्य के लिए काई स्थान नही है। विशेषत शरीर मे तो सौन्दर्य की कल्पना ही नही की जा सकती। जिस शरीर की उत्पत्ति, ससार मे सर्वाधिक घृणास्पद समझे जाने वाले पदार्थों से हुई है जो मल-मूत्र आदि अशुचि का थैला मात्र है, जिसके सम्पर्क से अन्य पदार्थ भी अपावन वन जाते है और जो किसी भी उपाय या प्रयोग से शुचि नही वनाया जा सकता, उसके सौन्दर्य, सस्कार या शौच के लिए ज्ञानी जन चिन्ता नही करते। धर्म का एक अनिवार्य उपकरण समझ कर ही साधक उसका सरक्षण करते है और वह भी एक सीमा तक ही।

पल-पल पर पलटने वाले इस शरीर मे सौन्दर्य ही क्या है ! पुराने अनुभवी सन्त कहा करते है कि मानव-शरीर मे पाँच करोड, अडसठ लाख, निन्न्यानवे हजार, पाच सौ आठ रोग भरे है। इनमे से एक भी रोग का उभार शरीर की सुन्दरता को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए पर्याप्त है। एक समय जिस शरीर के सौन्दर्य को देख कर वहिरात्मा जीव मुग्ध हो जाते है, स्वल्पकाल मे ही वह किसी रोग से जर्जरित होकर ऐसा विकृत और घृणित वन जाता है कि उसकी ओर आँख उठाने की भी इच्छा नहीं रह जाती। ऐसी दशा मे शरीर सौन्दर्य और वाह्य वेष-भूषा के पीछे पागल वन कर आत्म सौन्दर्य को विस्मृत नही कर देना चाहिए, वरन् आत्मा की ही अलौकिक आभा

को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। मुनि के शरीर मे स्थित आत्मा स्वभावत ज्ञान दर्शन संयम, तप, त्याग आदि गुणो का निधान है। उसकी ओर ध्यान देने से ही आपकी आत्मा मे भी इन अलौकिक सद्गुणो का अरुणोदय होगा। ऐसा करने से आपके अन्तर्जगत् का अन्धकार दूर होगा और एक अपूर्व ज्योति से जीवन जगमगा उठेगा।

आचार्यप्रवर समन्तभद्र अपने रत्नकरण्डश्रावकाचार मे कहते है—

> स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते ।
> निर्जुगुप्सा गुणप्रीति-र्मता निर्विचिकित्सता ॥

शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है, उसकी पवित्रता रत्नत्रय मे है। अतएव शरीर की ओर लक्ष्य न देकर, गुणी के शरीर से घृणा न कर गुणो से प्रेम करना निर्विचिकित्सा है।

अमूढ़दृष्टिता

मूढता का अभिप्राय है—अज्ञान, भ्रम, सशय, विपर्यास। जब तक मनुष्य की दृष्टि में सम्यक्त्व नही आता, इन दुर्गुणो से पिण्ड छूटना सम्भव नही और जब सम्यक्त्व की अनूठी आभा आत्मा मे उद्भासित हो उठती है तो चिर कालीन या अनादि कालीन नाना प्रकार के भ्रम एव विपर्यास आदि का धुन्धलापन टिक नही पाता। सम्यग्दृष्टि का दिमाग एकदम सुलझा होता है और हेय-उपादेय विषयक उसका विवेक निरन्तर जागृत रहता है। उसका निर्णय और व्यवहार सही दिशा की ओर ही झुकता है। वह गलत विचार से प्रेरित होकर गलत मार्ग पर नही चलता। यही सम्यग्दृष्टि की अमूढदृष्टिता है।

देखते है, मानव जाति के विभिन्न वर्गो में भाँति-भाँति के वहम घर करके पैठे हुए है। उनकी गणना करना भी सम्भव नही है।

[illegible] भाषा के विभिन्न [illegible] किया गया है—
[illegible] (१) [illegible] । [illegible]
[illegible] है।

२) [illegible]
[illegible] । [illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] है।
[illegible]
[illegible]
[illegible] है।

३) [illegible]
[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ।
—[illegible] ।

[illegible]

[illegible]

साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश मानव-मस्तिष्क की चिन्तन शक्ति को अत्यन्त कुंठित कर देते है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य हेय-उपादेय, उचित-अनुचित का विवेक नही कर पाता। किन्तु सम्यग्दृष्टि मे इस प्रकार की दुर्वलता नही रह जाती। वह परमार्थिक दृष्टि से ही निर्णय करता है। आत्मिक श्रेयस्-अश्रेयस् की तुला पर ही उपादेय और हेय को तोलता है।

अगर आप सव प्रकार के अन्धविश्वासो से मस्तिष्क को पृथक् रख कर, सही सूझ-बूझ से वास्तविकता का निर्णय करते है और उस निर्णय मे लौकिक रूढि तथा पान्थिक कदाग्रह को हावी नही होने देते, तो ही आप सही निर्णय की दिशा में झुकते है।

इससे विपरीत, जिसकी दृष्टि में स्वच्छता नही आई है वह बाह्य शौच और जड क्रियाकाण्ड को ही आत्मशुद्धि का साधन मानता है और कहता है—

> गङ्गा-गङ्गेति यो ब्रूयाद्, योजनानां शतैरपि।
> मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं च गच्छति॥
>
> —विष्णु पुराण।

सौ योजन दूर वैठा हुआ भी जो मनुष्य गंगा का नाम ले लेता है, उसके समस्त पाप धुल जाते है और वह विष्णु लोक में जा पहुँचता है।

मानव का मानसिक स्तर किस सीमा तक जा पहुँचा है, वह किस प्रकार की भूल-भुलैया मे जा पडा है और आत्मशुद्धि के राजमार्ग से भटक कर गलत राह पर दौड़ रहा है! यह उद्धरण इस वात की साक्षी देता है।

करुणावरुणालय भगवान् महावीर ने सर्वतोभद्र विचार प्रस्तुत करते हुए कहा था—वाह्य शौचाचार से अन्तरतर की शुद्धि नही हो सकती। यदि आत्मा आठ मदो से मलीन है, क्रोध, मान, माया, लोभ के कालुष्य से कलुषित है तो कथित तीर्थस्थानो मे जाकर प्रात और साय, जल मे डुबकी लगाने से उसमे स्वच्छता आ जाएगी, यह धारणा अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। जल से आत्मा की मलीनता धुल सकती हो तो निरन्तर जल मे विचरण करने वाले जलचर जन्तु सीधे स्वर्ग-मोक्ष मे क्यो नही चले जाते ?

उदगेण ये सिद्धि मुदाहरंति।
साय च पाय उदग फुसता ॥
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी।
सिज्झिस्सु पाणा बहवे दगसि ॥

—सूत्रकृताय।

तो फिर आत्मिक मैल से मुक्त होने का उपाय क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए भगवान् महावीर के उपदेश को समझने की—आगम साहित्य का अवलोकन करने की आवश्यकता है। ब्राह्मण पण्डितो ने चाण्डालकुलोत्पन्न तपोमूर्त्ति हरिकेशी श्रमण से प्रश्न किया—महामुनि, आप शुद्धि के लिए किस जलाशय मे स्नान करते हैं, आपका शातितीर्थ क्या है और कहाँ स्नान करने से आत्मा कर्म-रज से मुक्त होता है ? तब श्रमणसस्कृति के उस देवदूत ने उत्तर दिया था—

धम्मे हरए, बभे सतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेस्से।
जहि सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोस ॥

एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं,
महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहि सिणाया विमला विसुद्धा,
महारिसी उत्तम ठाणं पत्ता ॥

—उत्तराध्ययन ।

हरिकेशी कहते है—धर्म ही जलाशय है और ब्रह्मचर्य ही शान्ति-तीर्थ है, आत्मा के विशुद्ध भाव ही पवित्र घाट है, जिसमे स्नान करके मै कर्म-रज को हटाता हूँ। ज्ञानी पुरुष ऐसा ही स्नान करते है। ऋषियो-महर्षियो ने इसी स्नान की प्रशसा की है। यही कर्म-मल को दूर करने वाला सच्चा स्नान है।

महा श्रमण ने स्वल्प शब्दो में चिन्तन और मनन की कितनी सामग्री प्रस्तुत कर दी है।.एक-एक वाक्य में चिरन्तन सत्य की गगा बह रही है। आत्मिक मैल को धोने का कितना सहज और सच्चा उपाय है।

अरे मूढ, क्यो भटकता फिरता है वाहर, सब कुछ तो तेरे भीतर भरा है। सच्चा तीर्थ तेरे अन्दर है। उसी में गोते लगा और पवित्र वन।

इसी आशय का एक प्रसग वैदिक साहित्य में भी आता है। महाभारत युद्ध की समाप्ति के पश्चात्, युद्धजनित पापो से छुटकारा पाने के लिए ६८ तीर्थो की यात्रा करके युद्धिष्ठिर श्रीकृष्ण के पास आते है। तब कृष्ण ने उनसे कहा—यह वताओ, पाप का मैल शरीर पर लगा है या आत्मा पर? यदि आत्मा पर लगा है तो वह शरीर को साफ करने से किस प्रकार धुल सकता है? किन्तु तुम लोकमूढता के शिकार हो रहे हो और इस कारण तुम्हारी विचारशक्ति

कु ठित हो गई है। वास्तव मे, यही आत्मा आपगा है। इसमे सयम का शीतल जल भरा है, करुणा की उर्मियाँ उठ रही है, सत्य का प्रवाह बह रहा है। शील इसका तट है। पाण्डुपुत्र! इसमे स्नान करने से ही आत्मा की शुद्धि हो सकती है—

आत्मा-नदी सयम-तोयपूर्णा।
सत्यावहा शील-तटा दयोर्मिः ॥
तत्राभिषेक कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुद्‌ध्यति चान्तरात्मा ॥

—महाभारत।

आत्मा का मैल ही वास्तविक मैल है। जब वह धुल जाता है तो फिर धोने के लिए कुछ नही रह जाता। एक जैनाचार्य ने कहा है—

मलमइल पकमइला, धूलीमइला न ते नरामइला।
जे पावकम्ममइला, ते मइला जीव लोगम्मि ॥

जिनके शरीर पर मैल चढ गया है, कीचड़ या धूल लग गई है, वे नर मलीन नही। मैले वे हैं जो पाप कर्मों से मलीन है।

हाँ, तो नदी-नालो मे नहाने को धर्म मानना, पाषाणो का ढेर लगा कर, उसमे देवी-देवताओ की कल्पना करके, उसके सामने मस्तक रगडना, पहाड से गिर कर या अग्नि मे कूद कर मरने मे धर्म समझना—यह लोकमूढता है।

(३) समयमूढ़ता—शास्त्र और धर्म के सम्बन्ध मे होने वाली बुद्धि की भ्रान्ति या विपरीतता समयमूढता है। समयमूढ पुरुष न धर्म सम्बन्धी वास्तविकता का निर्णय कर पाता है, न शास्त्र की

असलियत को पहचान सकता है और न यही समझ पाता है कि अपने पथ-प्रदर्शक के रूप में किसे चुना जाय—किसे गुरु बनाया जाय ?

सम्यग्दृष्टि इन सब मूढताओं से विमुक्त होता है। उसका दिमाग सुलझा हुआ होता है, और विवेक जागृत होता है। वह अभ्रान्त निर्णय करता है और किसी भी प्रकार की रूढि, परम्परा या वहम उसके निर्णय मे बाधक नही होते ।

उपबृंहण

'उववूह' का संस्कृत रूप 'उपबृंह' है । 'बृंहि' धातु के साथ 'उप' उपसर्ग लगने से 'उपबृंह' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है वृद्धि करना, तरक्की करना, बढाना या पोषण करना । दूसरों के सम्यक्त्व-चारित्र रूप गुणो को बढावा देना, प्रशंसा करके उनकी वृद्धि मे योग देना उपबृंह या उपबृंहण अङ्ग है ।

अपने गुणो का ढिंढोरा पीटना और दूसरो मे अवगुणो का आरोप करना, उनका अपलाप करना, सत्पुरुष का कर्त्तव्य नही । भद्र पुरुष दूसरे के गुणो को देखता है, उनकी कद्र करता है प्रशंसा करता है । ऐसा करने से न केवल दूसरो के गुणो को विकसित करने की प्रेरणा मिलती है, वरन् उसके स्वयं के गुणो का भी विकास होता है ।

आचार विचार का मूर्त्त रूप है । जैसे विचार अन्त करण में चक्कर लगा रहे होगे, वैसा ही आचरण होने लगेगा । अतएव विचारो के परिशोधन की ओर सर्वप्रथम ध्यान देने की आवश्यकता है ।

[illegible] का अभिप्राय है कि वह अपने से अधिक गुणवान् को [illegible] बहुमान, सम्मान और अनुराग प्रकाशित करे तथा [illegible] जीवन में भी जागृत करने का प्रयत्न करे। '[illegible]' का स्वर जीवन में सतत [illegible] रहना चाहिए। [illegible] की साधना से जीवन संस्कारों को बल मिलता है। हृदय में विशालता उत्पन्न होती है। सद्गुणों के प्रति उत्कट [illegible] से साधना में आध्यात्मिक शक्ति का प्रस्फुटन होता है। [illegible] विकास पथ की ओर अग्रसर होने की पवित्र प्रेरणा [illegible] है। अशुभ संस्कार क्षीण होते हैं। शुभ संस्कारों का [illegible] होता है।

[illegible] का आधार वस्तुतः गुणों का सम्मान है। गुण [illegible] से ही अभिव्यक्त होते हैं। [illegible] गुणों के [illegible] नहीं [illegible] गुणी पुरुषों का आदर [illegible] है। [illegible] है कि साधक [illegible] [illegible] गुणानुरागी होना चाहिए [illegible] चाहिए।

[illegible]

[illegible]

राह पर नही चल पाता। उसे असत्मार्ग पर चलने के लिए लाचार होना पडता है। वाह्य कठिनाइयो के कारण ही नही आन्तरिक दुर्बलता के कारण भी कभी-कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि पुरुप दूसरे को ऐसी स्थिति में देख कर और उसे पतनोन्मुख जान कर यथाशक्ति स्थिर करने का प्रयत्न करता हैं। मुख्य रूप से पतन दो प्रकार का है – सम्यग्-दर्शन से और सम्यक् चारित्र से। पतित होने वाला यदि दर्शन से पतित होता है तो उसे तत्त्व का वास्तविक वोध कराने से स्थिरी करण किया जा सकता है। यदि कोई चारित्र से गिर रहा हो तो उसका कारण तलाश करके और यथोचित प्रतिकार करके स्थिर किया जा सकता है।

चार प्रकार के सघ–स्थापना की यह भी एक महत्त्वपूर्ण उपयोगिता है कि सघ के सदस्य परस्पर एक-दूसरे के दर्शन–ज्ञान–चारित्र में सहायक वनें, और एक मे जव किसी कारण से दुर्वलता उत्पन्न हो तो दूसरे उसे सँभालें। चारित्र से भ्रष्ट होने को उद्यत रथनेमि मुनि को प्रात स्मरणीय राजीमती ने स्थिर किया था। इस प्रकार सघ का प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे वर्ग और व्यक्ति को स्थिर करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझे तो सघ का अभ्युदय होता है और उस व्यक्ति का भी हित होता है।

आज हमारा श्रावकवर्ग, आर्थिक एवं सामाजिक आदि कठिनाइयों से पराजित होकर धर्म से विमुख होने वाले अपने स्वधर्मी भाइयो की स्थिरता के लिए कितना उद्यत है, इस प्रसग

पर यह विचारणीय है। मगर इस विचार का भार मैं पाठकों के ऊपर ही छोड़ देना चाहता हूँ। हाँ, इतना अवश्य याद दिला देना चाहिए कि सच्चा सम्यग्दृष्टा अपने स्वधर्मी बन्धु के पतन को देखकर निश्चेष्ट नही रह सकता। अगर कोई निश्चेष्ट रहता है और उसके स्थिरीकरण के लिए अपनी शक्ति के अनुसार भी प्रयास नही करता तो सोचना होगा कि वास्तव मे वह स्थिरीकरण आचार का पालन नही कर रहा है।

सक्षेप मे यह कि आध्यात्मिक जीवन की महत्ता को विस्मृत करके पवित्रता और उच्चता से पराड्मुख होते हुए प्राणो को स्थिर करना ही स्थिरीकरण है। यह अग स्व-पर दोनो का समान रूप से उपकारक है।

वात्सल्य

मानव जीवन मे एक विशिष्ट वृत्ति निहित है, जिसे सामाजिकता का भाव कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। इसी वृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य ने परिवार, ग्राम, नगर, समाज और राष्ट्र का निर्माण किया है। नितान्त एकान्त जीवन व्यतीत न कर सकने के कारण, सुख-दुख मे सहानुभूति और सवेदना प्राप्त करने के लिए, मानव मानव से प्रेम करता है। विशेषत: 'समानशीलव्यसनेषु सख्यं' अर्थात् समान आचार-विचार और समान आदत वालो मे प्रीति होती है, इस उक्ति के अनुसार वह अपने समानधर्मी के प्रति स्नेहवान् होता है।

इस प्रकार के प्रेम के अभाव मे मानव-जीवन टिक नही सकता। हम पारस्परिक सहयोग और सहकार के बल पर ही जीवन यापन कर सकते है। मानवजीवन का आधार 'परस्परोपग्रह' ही है।

श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र कहते है—स्वधर्मियों के प्रति, सदृश सद्गुणियों के प्रति, निष्कपट भाव से प्रीति रखना और यथोचित अशन, पान आदि से उनकी सेवाशुश्रूषा करना वात्सल्य है—

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथाऽपेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथा योग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते ।।

सांसारिक प्रेम प्राय: स्वार्थलिप्सा के आधार पर अकुरित होता, पनपता और फलता-फूलता है। वह ऊपर से चाहे जैसा दृष्टिगत हो, मगर उसके भीतर स्वार्थ भावना अठखेलियाँ करती होती है। और जब उसका उद्गम ही स्वार्थ मे होता है तो वह तभी तक टिकता है जब तक उसे स्वार्थपूर्त्ति का जल मिलता रहे। ज्यों ही स्वार्थ में व्याघात उपस्थित हुआ कि वह प्रेम भी अदृश्य हो जाता है। किन्तु वात्सल्य शब्द से अभिहित होने वाला प्रेम इस कोटि का नही होता। उसमे स्वार्थलिप्सा की मलीमसता नही होती। वह निःस्वार्थ और पावन होता है।

स्वधर्मी के प्रति किया जाने वाला प्रेम वास्तव में धर्मप्रेम का ही एक अग है। उसका आधार निकृष्ट स्वार्थ नही होता। जिसके अन्त:करण में धर्म-शासन के प्रति अनुराग होता है, वह धार्मिक के प्रति अनुराग व्यक्त किये बिना रह ही नही सकता।

वात्सल्य-अंग सघ का प्राण है। इसके अभाव मे किसी भी सजीव संघ की कल्पना ही नही की जा सकती। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने सार्धमिक से उसी प्रकार प्रेम करता है, जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से। गाय बछडे के सकट के अवसर पर दर्शक की भाँति, निष्क्रिय होकर खडी नही रहती। उसकी रक्षा के लिए वह अपने प्राणों को भी जोखिम मे डाल

देती है । सच्चा सम्यग्दृष्टि भी अपने स्वधर्मी के लिए कुछ उठा नही रखता ।

प्रभावना

सम्यग्दृष्टि साधक का जीवन साधारण नही होता । वह सदाचार से सुवासित होता है । सद्विचार के सरस और सुन्दर सौरभ से ओतप्रोत होता है । उसके जीवन की महकती गध मानव-मन को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है । जो भी उसके सम्पर्क मे आता है, अनूठे आनन्द और माधुर्य का अनुभव करता है । उसका जीवन मूक रूप मे दूसरो को प्रेरणा देता है— मानव ! तू फूल वन और ससार मे अपने सरस सौरभ को विकीर्ण कर । यही तेरी जीवन की सार्थकता है -

फूल वन कर महक, तुझे जमाना जाने,
तेरी भीनी-भीनी महक; अपना औ बिगाना जाने ॥

जीवन की दिव्यता और महत्ता इसी सूत्र मे निहित है; न विषयवासना को चरितार्थ करने मे और न स्वार्थलिप्सा की आहुति वनने मे ।

किसी जिज्ञासु ने एक सन्त के समक्ष अतिशय छोटा किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया–'कि जीवितम् ?' अर्थात् जीवन क्या है ?

सन्त बोले—'दोष विवर्जित यत्'। सच्चा जीवन वह है जो दोष शून्य हो, जिसमे विकारो की कालिमा न हो ।

इस प्रकार स्वय निर्विकार जीवन यापन करने वाला ही दूसरो के समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित कर सकता है। वही

उस धर्म का, जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, उद्योत कर सकता है। अपने विचार और आचार के द्वारा, साथ ही जो भी अन्य विशिष्ट योग्यता या शक्ति प्राप्त हो, उसके प्रयोग द्वारा सद्धर्म एव सन्मार्ग के प्रभाव का प्रसार करना ही प्रभावना आचार है।

साधारण जनता स्थूलदृष्टि होती है। वह धर्म के मर्म की गहराई तक नही पहुँचती। तत्त्वो के तलस्पर्शी ज्ञान की अपेक्षा उससे नही की जा सकती। उसके लिए तो किसी धर्म के अनुयायियो का व्यवहार ही उसके धर्म की कसौटी होता है। ईसाई धर्म के कोटि-कोटि-सख्यक अनुयायी उस धर्म के तत्त्वज्ञान से आकृष्ट होकर नही बने। ईसाइयो के व्यवहार ने ही उन्हे उस धर्म की ओर आकृष्ट किया है। इस तथ्य को आज सजीदगी के साथ समझ लेने की आवश्यकता है। आपका प्रत्येक जीवन व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि उसे देखकर ही लोग आपके धर्म की महत्ता का अनुभव करे और धर्म से प्रभावित हो।

किन्तु धर्मप्रभावना का क्षेत्र यही तक सीमित नही होता। आज जैनधर्म के विषय मे विश्व के साक्षरो को भी अत्यल्प जानकारी है और कतिपय भूभाग तो ऐसे भी होगे जहाँ जानकारी है ही नही। यह जैनधर्म के अनुयायियो की उपेक्षा और प्रमाद-प्रचुरता का प्रतीक नही तो और क्या है?

जैनधर्म का तत्त्वज्ञान उच्चतम कोटि का है। उसकी आधार शिला चट्टान की भाँति सुदृढ है। आध्यात्मिक एव भौतिक जगत् का उसका विश्लेषण बुद्धि एवं विज्ञान दोनो से निर्णीत और अपूर्व है, किन्तु आज हम उसे विश्व की भाषा मे, युग का

वाणी और शैली मे उपस्थित नही कर सके है । यही कारण है कि ससार उससे यथेष्ट लाभ नही उठा पाता। वह दिव्य निधान अनजाना-सा पडा है ।

प्रभावना—आचार की यह प्रेरणा है कि जिनशासन के माहात्म्य को संसार के समक्ष उपस्थित किया जाय और दिव्यद्रष्टाओं के तत्त्वज्ञान का प्रकाश सर्वत्र फैलाया जाय ।

सम्यग्दृष्टि पुरुष शासनप्रभावना के किसी अवसर को वृथा नही जाने देता। वह तन से, मन से, धन से, वचन से, प्रवचन से, अध्यापन से तथा जिस प्रकार भी संभव हो, प्रत्येक साधन मे जिनशासन की महिमा का विस्तार करता है। यही उसका प्रभावना अग या आचार है ।

ये आठ गुण अन्तश्चेतना को जागृत कर आत्मिक शक्तियों को प्रबल बनाते है और विशेष रूप मे सम्यग्दर्शन को समृद्ध और पुष्ट करते है ।

★★

जीवन दृष्टि की मलीनताएँ

अतिचार

'अतिचार' शब्द का अर्थ है—मर्यादा का उल्लघन करके वर्त्ताव करना। अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अपने अनियन्त्रित जीवन को नियन्त्रित करने के लिए जो मर्यादा या व्रत-नियम अगीकार किया है और उसी के अनुसार जीवन व्यवहार करने का सकल्प किया है, उसका आशिक रूप मे भग हो जाना अतिचार है।

आशिक रूप में भग हो जाने का भी एक विशेष अभिप्राय है। जैनाचार्यों ने स्वीकृत व्रत के भंग को चार कोटियो मे बाटा है—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। व्रतभग की बुद्धि उत्पन्न होना अतिक्रम है और उसके लिए साधनसामग्री जुटाने का प्रयास करना व्यतिक्रम है। व्रती यह समझता हो कि मै अपना व्रत भग नहीं कर रहा हू, इस क्रिया से मेरा व्रत खण्डित नही हो रहा है, किन्तु उसकी वह क्रिया वास्तव में व्रत की मर्यादा से बाहर हो और उससे व्रत मे किसी प्रकार की त्रुटि उत्पन्न होती हो, तो उसकी वह क्रिया अतिचार की कोटि मे आती है। इससे भी आगे बढकर जब व्रती जान-बूझकर, व्रत की रक्षा की भावना से निरपेक्ष होकर कोई व्रतविरुद्ध आचरण करता है, तब वह आचरण 'अनाचार' की कोटि मे परिगणित होता है।

... अहमदाबाद

यद्यपि यह चारो कोटियाँ सामान्य रूप से अतिचार कहलाती है, तथापि व्रतभग की तरतमता को विशेष रूप से समझने के उद्देश्य से इनका विभागोपदर्शन किया जाता है।

स्मरणीय है कि व्रत एक प्रकार का सयम है और वह आत्मा के निश्रेयस् के लिए इच्छापूर्वक अगीकार किया जाता है। सयम वलात् आरोपित नही किया जाता और न किया ही जा सकता है। अतएव साधक की नैतिकता सर्वतोभावेन व्रतसरक्षण मे ही है तथापि कदाचित् भ्रान्ति से, कदाचित् प्रलोभन से, कदाचित् क्रोध या द्वेष से, और कदाचित् परिस्थिति की विषमता से, ऐसा अवसर आ जाता है कि व्रत की पूरी तरह रक्षा नही हो पाती और ऐसा कार्य हो जाता है जो व्रत की सीमा का कुछ उल्लघन करता है। वही अतिचार कहलाता है।

व्रत के उल्लघन के तारतम्य एव प्रकार किसी नियत सख्या मे आवद्ध नही है। वह अनियत और अगणित है। तथापि स्थूल रूप मे उनका ऐसा वर्गीकरण कर दिया गया है, जिनमे सभी अतिक्रमणो का समावेश हो जाय।

सम्यग्दर्शन के अतिचार पाँच है। यहाँ उन्ही पर सक्षेप मे विचार करना है।

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक आनन्द को लक्ष्य करके कहा—

'एव खलु आणंदा, समणोवासएणं अभिगयजीवाजीवेणं... सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहासका, कंखा, विइगिच्छा, परपासं डपसंसा, परपासडसथवे।

—हे आनन्द ! जीव-अजीव के स्वरूप को जानने वाले श्रमणोपासक को सम्यक्त्व के पाँच अतिचार जानने चाहिए, किन्तु उनका आचरण नही करना चाहिए । वे अतिचार ये हैं— (१) शका (२) काक्षा (३) विचिकित्सा (४) परपाषण्डप्रशसा और (५) परपाषण्डसंस्तव ।

यह पाँच अतिचार सम्यक्त्व मे मलीनता उत्पन्न करते है। यदि प्रारभ में ही इन्हे न रोक दिया जाय तो ऐसी स्थिति आ सकती है कि बढते-बढते ये दोष समूचे सम्यक्त्व को ही निगल जाएँ । अतएव सम्यग्दृष्टि को यह सावधानी रखनी चाहिए कि जीवन में इनका प्रादुर्भाव ही न होने पाए ।

शका

शका जीवन की महान् दुर्बलता है। इसके रहते जीवन का सम्यक् रूप से विकास नही हो पाता । लड़खड़ाते कदमो से कोई कितना चल सकता है ? जब मजिल दूर हो और बहुत ऊँचाई पर हो, तब दृढ कदम ही काम दे सकते है।

शका सकल्प में दृढता नही आने देती । सकल्प की दृढता के विना लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए अपेक्षित आवश्यक आन्तरिक बल प्राप्त नही होता और बल के अभाव मे साध्य की सिद्धि नही हो सकती । अतएव यह आवश्यक ही नही, अनिवार्य है कि हम अपने साध्य और साधनो पर पूरा विश्वास लेकर चलें और अन्त.करण के किसी भी प्रदेश मे शका को अवकाश न दें ।

जब तक जिनोक्त तत्त्वो पर शंका बनी रहेगी,जीव अध्यात्मसाधना के पथ पर अग्रसर नही हो सकता । शका विवेक शक्ति और

विश्वास को नष्ट करने के लिए कुठार से कम नही है। वह सम्यक्त्व को नष्ट करती है।

श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को, कुरुक्षेत्र के मैदान मे सशय से होने वाली हानि प्रकट करते हुए कहा था—'सशयात्मा विनश्यति' जो आत्मा सशय मे पडा रहता है, उसका विनाश होता है।

द्विविध शका

इस प्रसग पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। जब हम जैनागमो के पन्ने पलटते है तो सूर्य के समान चमकती हुई दो महान् विभूतियाँ अनायास ही हमारी दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो जाती है एक प्रश्नकार के रूप मे और दूसरी उत्तरदाता के रूप में। इन्हे हम गौतम स्वामी और भगवान् श्री महावीर के रूप मे पहचानते है। गौतम स्वामी के ३६ हजार प्रश्न तो अकेले भगवतीसूत्र मे ही अकित है। इसके अतिरिक्त भी आगम साहित्य का अधिकाश भाग इनके प्रश्नोत्तरो के रूप मे है।

प्राचीन आचार्यो ने तीर्थकर के प्रवचनो को दो भागो मे विभक्त किया है—पुट्ठवागरणा अर्थात् प्रश्न उपस्थित होने पर उसके समाधान के रूप में की जाने वाली विवेचना, और अपुट्ठवागरणा अर्थात् बिना पूछे ही की जाने वाली प्ररूपणा। आपको ज्ञात होना चाहिए कि भगवान् महावीर स्वामी की अपृष्ठव्याकरणा की अपेक्षा पृष्ठव्याकरणा अधिक है।

गौतम स्वामी के चित्त मे, जब कभी किसी तत्त्व के विषय मे, सन्देह उत्पन्न होता था, वे श्रमण भगवान् महावीर के श्री चरणो मे पहुंचते और यथोचित प्रतिपत्ति के पश्चात् उस सन्देह को निवेदन करते थे। इस सम्बन्ध मे शास्त्रो मे गौतम स्वामी के

लिए 'जायसंसए' 'सजायससए' और 'उपण्णसंसए' विशेषणो का प्रयोग किया गया है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार का सशय क्या सम्यक्त्व के अतिचार की कोटि मे है ? क्या सम्यग्दर्शन का विघातक है ?

इस प्रश्न का उत्तर 'नही' में ही दिया जाएगा। शका दो प्रकार की होती है—श्रद्धा मूलक और अश्रद्धामूलक। जिस शका के गर्भ में श्रद्धा छिपी होती है और जो केवल जिज्ञासा के रूप मे ही व्यक्त की जाती है, वह सम्यक्त्व का अतिचार नहीं है। मगर अश्रद्धामूलक शका की बात निराली है। उसमे जिज्ञासा नही, अविश्वास ही प्रधान होता है। अतएव वह समकित का अतिचार है।

श्रद्धा और तर्क का समन्वय

कुछ लोग समझते है कि श्रद्धा एक प्रकार की मानसिक सुपुप्ति है। उसमें बुद्धि एव विचार का अवकाश नही है। जो जी में आया, मान लिया और उसी मे चिपट गये। इस प्रकार की श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

किन्तु जैनधर्म ऐसी श्रद्धा का समर्थन नही करता। उसकी सुस्पष्ट उद्घोषणा है—'पन्ना समिक्खए धम्म' अर्थात् प्रज्ञा से, तर्क बुद्धि से, धर्म की परीक्षा करनी चाहिए।

तथ्य यह है कि इस विराट् विश्व में असीम विविधता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल तत्त्वो के समूह का नाम जगत् है। इसमे बहुत-से तथ्य ऐसे है जो हमारी बुद्धि की परिधि मे आते है तो बहुत से ऐसे भी हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म एव रहस्यमय होने के कारण हमारी मति द्वारा ग्राह्य नही है। उन्हे समझने के लिए

जिस अलौकिक दृष्टि की आवश्यकता है, वह हमें प्राप्त नहीं है। उसे प्राप्त करने के लिए जितनी साधना अपेक्षित है, वह हमारे जीवन मे आई नही है। मनुष्य अपने बुद्धि वैभव का कितना ही अभिमान करे, परन्तु वास्तव मे उसका दायरा अत्यन्त सकीर्ण हैं। उसकी इन्द्रियाँ, जिनके बलपर वह इतराता है, कितना-सा जान पाती है। रहा मन सो वह बेचारा इन्द्रियो का ही अनुगामी है। ऐसी स्थिति मे अगर कोई पुरुष यह मान बैठता है कि मैंने सभी कुछ जान लिया है और जो नही जाना, वह है ही नही; तो वह दया का पात्र है।

इस प्रकार का अहकार उसकी और समग्र मानव जाति की प्रगति मे बाधक बनता है। अपने अज्ञान की विनम्र स्वीकृति से मनुष्य की प्रगति की सभावना की जा सकती है; मगर जो मनुष्य अपने अत्यल्प ज्ञान को ही पराकाष्ठा का ज्ञान मान लेता है, वह अपनी प्रगति की समग्र संभावनाओ मे पलीता लगा देता है।

अभिप्राय यह है कि जगत् के जो तत्त्व बुद्धिगम्य है, उन पर तर्क से विचार करना उचित है। मगर जो रहस्यमय तत्त्व मानवमति से अगोचर है, उनके विषय मे आप्त पुरुषो के कथन पर श्रद्धा रख कर ही चलना चाहिए। हाँ, युक्ति, प्रमाण और तर्क के द्वारा हमे आप्तता के विषय मे अवश्य आश्वस्त हो लेना चाहिए। इस प्रकार श्रद्धा और तर्क के उचित एव विवेकपूर्ण समन्वय से ही हम यथार्थ बोध के अधिकारी बन सकते है।

जहाँ कुछ लोग एकान्त तर्कवाद की हिमायत करते है, कुछ ऐसे भी हैं जो एकान्त श्रद्धा वादी होते है। मगर विवेकविकल श्रद्धा अन्धश्रद्धा है और ऐसी श्रद्धा मे चैतन्य नही होता। अन्धश्रद्धा के

द्वारा हेय-उपादेय का, ग्राह्य-अग्राह्य का बुद्धिसंगत अन्तर नही समझा जा सकता। उसमें दभ, आडम्बर एव पाखण्ड को देख कर फिसल जाने की सभावनाएँ बनी रहती है किन्तु जो कसौटी पर कस कर सत्य को स्वीकार करता है, वह प्रतारित नही किया जा सकता, वह सभी समस्याओ और जटिल से जटिल प्रश्नो का उचित समाधान करता हुआ अपने मार्ग पर स्थिर रहता है।

इस प्रकार जीवन में तर्क की भी आवश्यकता है, किन्तु भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित तर्क—प्रज्ञा—और आज के एकान्त बुद्धिवादी मानव के तर्क मे दिन-रात का अन्तर है। आधुनिक बुद्धिवादी श्रद्धा के क्षेत्र को और महत्त्व को स्वीकार नही करता। वह तर्कातीत तत्त्वो पर भी तर्क के तीर छोडता है और जब वे लक्ष्य पर नही पहुँचते तो उनके अस्तित्व को ही अस्वीकार कर बैठता है। वह श्रद्धागम्य प्रदेश को बुद्धिगम्य बनाने की निष्फल चेष्टा करता है और धोखा खाता है।

उचित यही है कि जीवन मे श्रद्धा और तर्क का समुचित समन्वय हो। जो ज्ञेय तर्क की परिधि के अन्तर्गत हो, उन्हे तर्क की तुला पर तोला जाय और जो तर्क की पहुँच से बाहर है, जो भावनाजनित लोकोत्तर ज्ञान के द्वारा ही जाने जा सकते हैं, उन पर अविचल श्रद्धा रक्खी जाय और आप्त पुरुषो के उपदेश को प्रमाणभूत मान कर चला जाय। इस प्रकार के समन्वय से जीवन में जागृति आती है और आन्तरिक बल की वृद्धि होती है। जिस तर्क के पीछे श्रद्धा का बल होता है, वह सम्यक्त्व का आभूषण बनता है और जिसके पीछे श्रद्धा का बल नही, वह सम्यक्त्व का दूषण है।

गौतम स्वामी के हृदय मे शका उत्पन्न होती थी, पर उस शका के पीछे आस्था की अविचल भूमिका थी, श्रद्धा के दिव्य दीपक का प्रकाश जगमगाता रहता था। शका का समाधान प्राप्त होने पर उनके अन्तरतर से अनायास ही यह ध्वनि निकल पडती थी—

'सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथ पावयणं,
पत्तियामि णं भंते ! निग्गथं पावयणं,
रोएमि णं भंते ! निग्गथं पावयणं,
तहमेय भंते ! अवितहमेय भंते !
इच्छियमेय भंते ! पडिच्छियमेय भंते !
इच्छियपडिच्छियमेय भंते !
से जहेय तुब्भे वयह ।'

—उपासक, अ. १, सू. १२.

अर्थात्—भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर प्रतीति करता हूँ। भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर रुचि करता हूँ। भगवन् ! निर्ग्रन्थप्रवचन तथ्य है, अवितथ्य है, मुझे इष्ट है, अभीष्ट है, इष्टाभीष्ट है, जैसा आप कहते हैं वैसा ही है।

यह है सच्चे साधक के हृदय के उद्‌गार। जहाँ इतनी गाढी श्रद्धा है, वहाँ सम्यक्त्व मे न्यूनता या मलीनता के लिए कोई अवकाश नही हो सकता। इस प्रकार की मनोभूमिका की विद्यमानता मे प्रस्तुत की जाने वाली शंकाएँ सम्यग्दर्शन की बाधक नही, वर्द्धक ही होती हैं। श्रद्धालुओ की शकाएँ, विषय को विशद और स्पष्ट करने के लिए होती है। गौतम स्वामी के प्रश्नो का यह सुपरिणाम है कि विराट् आगम-साहित्य की अनमोल सम्पत्ति हमे विरासत मे मिल सकी।

कांक्षा

सम्यग्दर्शन को मलीन बनाने वाला दूसरा अतिचार 'कांक्षा' है। कांक्षा का सामान्य अर्थ है–इच्छा या अभिलाषा; किन्तु इस प्रसग मे कांक्षा शब्द का पारिभाषिक अर्थ ही ग्राह्य है। कांक्षा अतिचार का अभिप्राय है—पाखण्डियो के आडम्बर या दंभ से आकृष्ट होकर; अपने सच्चे आत्मशोधक पथ से विचलित होकर उनके पथ पर चलने की अभिलाषा जागृत होना, वहिर्मुख साधना से उत्पन्न हुई विभूतियो की चकाचौंध में अपने आध्यात्मिक पथ से डिग कर उनकी ओर झुकने की मनोवृत्ति उत्पन्न होना।

मानव-मन अतीव चपल है। साधना के पथ पर चल पडने पर और अनेक प्रकार की साधनाओ द्वारा सँभालने पर भी वह जल्दी वशीभूत नही होता। अनादिकालीन सस्कार उस पर अपना रंग जमाये रहते हैं और उसे पथभ्रष्ट करने का अवसर देखते रहते हैं। साधक जरा भी असावधान हुआ और उन संस्कारो ने हमला किया। तत्काल सँभल गया तो ठीक, अन्यथा कुशल नही। वे कुसंस्कार वलवत्तर होकर उसे गलत दिशा में ले जाते है।

वड़े-वडे तपस्वी और योगी भी इन कुसंस्कारो के वशवर्ती होकर अपने लक्ष्य को भूल कर लौकिक चमत्कारो और एपणाओ के प्रलोभन में पड जाते है। सासारिक चमत्कार और स्वर्गीय सुख ही उनका ध्येय वन जाता है। ऐसी स्थिति में उनकी दशा उस कृषक के समान हो जाती है जो कठोर श्रम करके भी धान्य के वदले भूसा ही पाता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने साधको को सावधान करते हुए कहा था—

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,

नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ।

—दशवैकालिक, अ ९,

साधक इहलोक संबधी लाभ के लिए तप न करे, परलोक सम्वन्धी लाभ के लिए तप न करे, कीर्त्ति, यश या प्रशसा के लिए तप न करे, तप करे एक मात्र कर्मनिर्जरा के लिए ।

कामना, अभिलाषा, मूर्च्छा, लोभ, आसक्ति, लोकैषणा आदि काक्षा के अनेक रूप है। वडी कठिनाई यह है कि किसी कामना की पूर्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है तो उसकी पूर्त्ति होते न होते अन्य अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती है अथवा वही एक कामना भस्मासुर की तरह अपना स्वरूप विस्तार करती जाती है। ज्यो-ज्यो लाभ होता है, त्यो-त्यो लोभ वढता जाता है, वल्कि लाभ ही लोभ-वृद्धि का कारण वन सकता है—

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो पिवड्ढई ।

—उत्तरा. अ. ८-गा. १७

इस प्रकार कामना की पूर्त्ति मे तत्पर हुआ पुरुष न कामना की पूर्त्ति कर पाता है, न पूर्त्तिजन्य तृप्ति का रसास्वादन कर सकता है और न जीवन के ऊँचे ध्येय को सम्पन्न करने मे समर्थ हो पाता है। प्रत्युत अतृप्तिजन्य आकुलता की आग मे जलता हुआ अपने भविष्य को दुखमय वनाता है।

इस तथ्य को जान कर जिसने लालसा का त्याग कर दिया, वही ज्ञानी है और उसे तत्काल ही सन्तोष-सुधा के पान करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है कि वह वीतरागोपदिष्ट मार्ग से विरुद्ध किसी मार्ग की अभिलाषा न करे और अपने सम्यक्त्व को निर्मल रक्खे।

विचिकित्सा

सम्यग्दर्शन का तीसरा अतिचार विचिकित्सा है। आठ अगो के विवेचन में, निर्विचिकित्सा अग का विवेचन करते हुए, विचिकित्सा का अर्थ बतलाया जा चुका है। वही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। तथापि सम्बन्ध-निर्वाह की दृष्टि से संक्षेप में उसका उल्लेख कर देना उचित है।

विचिकित्सा का अर्थ है—फलप्राप्ति में सन्देह करना। मै व्रतो और नियमो का जो पालन कर रहा हूँ, उसका फल मिलेगा अथवा नही ? इस प्रकार की डगमगाती चित्तवृत्ति विचिकित्सा है।

मतविभिन्नता को देखकर, निर्णायक बुद्धि के अभाव के कारण, ऐसा समझना कि यह भी ठीक है और वह भी ठीक है, इस प्रकार की बुद्धि की अस्थिरता भी विचिकित्सा के अन्तर्गत है।

मुनिजनो की आन्तरिक पवित्रता एव उज्ज्वलता की ओर न देखकर, शारीरिक मलीनता को ही देखना और मन मे ग्लानि लाना भी विचिकित्सा है। सम्यग्दर्शनी के लिए यह भी अतिचार है।

परपाखण्ड प्रशंसा
परपाखण्ड संस्तव

यह सम्यग्दर्शन के चौथे-पांचवे अतिचार है। इनका क्रमशः अर्थ है—मिथ्यादृष्टियो की प्रशसा करना और परिचय करना।

मिथ्यादृष्टि की प्रशसा करने से मिथ्यात्व की प्रशसा होती है और उसकी सगति करने से सगति करने वाले मे मिथ्यात्व की उत्पत्ति की सभावना रहती है। सब साधक एक-से प्रौढ नही होते, तत्त्व-निष्णात नही होते, अतएव वे विरोधी ससर्ग से पथभ्रष्ट हो सकते है। उनका हित और वचाव इसी मे है कि वे ऐसे प्रतिकूल परिचय और प्रभाव से दूर रहे। सूरदास कहते है—

जाके संग कुमति उपजत है,
परत भजन मे भंग,
तजो रे मन ! हरिविमुखन को संग।

—सूरसागर

हे मन ! जिनकी सगति से कुबुद्धि उत्पन्न होती है, और प्रभु के भजन मे विघ्न उपस्थित होता है, उसकी सगति मत कर। क्योकि—

ससर्गजा दोषगुणा भवन्ति।

अच्छी एव अनुकूल सगति गुणो को उत्पन्न करती है और कुसंगति दोषो को उत्पन्न करती है।

निष्णात, प्रौढ और तपे हुए साधक दुर्जनो, पथभ्रष्टो और मिथ्यादृष्टियो को भी सन्मार्ग पर ला सकते है। केशी स्वामी के सम्पर्क में आने से ही राजा प्रदेशी[1] सन्मार्ग पर आया था। यदि केशी स्वामी प्रदेशी से दूर ही दूर रहे होते तो उसकी आत्मा का उद्धार होना कठिन ही था। अतएव ऐसे समर्थ साधक अपवाद है। सामान्य साधक के लिए तो मिथ्यादृष्टि के घनिष्ठ सम्पर्क में आकर

१ राजप्रश्नीय

स्वय ही भ्रष्ट हो जाने की सभावना रहती है। यही इन अतिचारो के विधान का हेतु है।

गुलिश्तां मे शेख सादी साहव इसी तथ्य को इन शब्दो मे पेश करते है—'फरिश्ता (देवदूत) शैतान के साथ रहने लगे तो वह भी कुछ दिनो में शैतान वन जाएगा।'

महाभारत मे व्यासजी कहते है—

याद्दशैः सन्निविशते,
याद्दशांश्चोपसेवते ।
याद्दगिच्छेच्च भवितुं
ताद्दग् भवति पूरुष. ॥

मनुष्य जैसे मनुष्यो की सगति मे रहता है, जैसो की सेवा करता है तथा जैसा वनना चाहता है, वैसा ही वन जाता है।

वस्तुत. संसर्ग से गुण उत्पन्न भी होते है और नष्ट भी होते है। अतएव मनुष्य के लिए आवश्यक है कि उसने अपना जो लक्ष्य निर्धारित किया है और उसकी प्राप्ति के लिए जो साधन चुने हैं; उनके प्रति एकनिष्ठ वने रहने के लिए वह ऐसे लोगो की प्रशंसा एवं परिचय से वचता रहे, जिनके सम्पर्क से उसके चित्त मे दुविधा उत्पन्न हो, विक्षेप हो, अनास्था हो, चचलता हो।

इस कथन का आशय यह नही है कि जो साधक परिपक्व हो चुके है, वे असन्मार्गगामी जनसमूह को सन्मार्ग पर लाने के लिए भी उनके सम्पर्क मे न आवें। यह वात ऊपर कही जा चुकी है। साधना की प्राथमिक स्थिति में चलने वाले साधको को खास तौर पर इन अतिचारो से वचना चाहिए।

अपारमार्थिक है; स्वाभाविक नही, वैभाविक है। यह अन्तर आवरण की विद्यमानता और अविद्यमानता के कारण उत्पन्न हुआ है। ससारी आत्मा आवरणों से ग्रस्त है। उसकी सहज शक्तियाँ कर्मावरणों से आच्छादित हो रही है। सिद्ध भगवान् सर्वथा आवरणविहीन हो चुके हैं। उनकी स्वाभाविक शक्तियाँ अपने असली रूप में प्रकाश में आ चुकी है। यही अन्तर का कारण है। इस कारण के दूर होने पर आत्मा परमात्मा ही है।

आवरणों में सब से प्रबल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व से जीव की रुचि विपर्यस्त हो जाती है। जैसे मदिरा के नशे से बेभान मानव को होशहवास नहीं रहता और उसकी विचारधारा विपरीत बन जाती है, इसी प्रकार मिथ्यात्व के प्रभाव से जीव की रुचि विपरीत हो जाती है। जैसे पित्तज्वरग्रस्त पुरुष को मधुर पदार्थ भी कटुक प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार मिथ्यात्वग्रस्त जीव भी, दृष्टिविपर्यास के कारण हित को अहित और अहित को हित मानता है। आध्यात्मिक दृष्टि से जीव की यह निम्नतम दशा है।

विश्व के अनन्तानन्त जीव इसी निम्नतम दशा में अनादि काल से पड़े हुए है। कुछ ऐसे भी हैं जो एक बार मिथ्यात्व के गहन अंधकार से निकल कर प्रकाश में आए, मगर वह प्रकाश स्थायी न रहा और वे पुनः उसी अन्धकार में निमग्न हो गये। ऐसे जीव, अनादि मिथ्यादृष्टि जीवों की अपेक्षा बेहतर स्थिति में हैं, क्योंकि वे एक [illegible] सम्यक्त्व [illegible], भले ही वह अल्पकाल का रहा हो, निश्चित रूप से पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करेंगे, मगर अनादिकालीन मिथ्यादृष्टियों के सम्बन्ध में [illegible] कुछ नहीं कहा जा सकता। उनमें से कोई सम्यक्त्व [illegible] प्राप्त कर सकता है और कोई सदा काल ही संसार [illegible]।

प्रश्न हो सकता है, आखिर सम्यक्त्व की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? इस प्रश्न पर पिछले एक प्रकरण मे किंचित् प्रकाश डाला जा चुका है, महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य विषय होने से यहाँ उसी का स्पष्टीकरण कर देना उचित है।

साधारणतया सम्यक्त्व की प्राप्ति के मुख्य प्रकार दो है—निसर्ग और उपदेश। निसर्ग से अर्थात् गुरु आदि के उपदेश के विना ही उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन 'निसर्गज' कहलाता है और गुरु आदि के हितोपदेश रूप निमित्त से उत्पन्न होने वाला 'अधिगमज' शब्द से अभिहित होता है।

जैसे तीव्र वेग के साथ प्रवाहित होने वाली सरिता के प्रवाह मे पडा पाषाण, अन्य पाषाणो से टक्करें खाता-खाता अनायास ही गोल-मोल वन जाता है, उसी प्रकार नाना गतियो एव योनियो में, तीव्रतर वेदना की भट्ठी मे जलता हुआ जीव कुछ प्राथमिक निर्मलता प्राप्त करता है। उसके अत्यन्त प्रगाढ कर्मों की कुछ निर्जरा होती है और निर्जरा के प्रभाव से उसे पाँच लब्धियो की प्राप्ति होती है।

पञ्चविध लब्धियाँ

प्रथम—क्षयोपशमलब्धि है, भवभ्रमण करते करते सयोगवश कभी ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो की अशुभ प्रकृतियो के अनुभाग (रस) को प्रतिसमय अनन्त-अनन्तगुणा न्यून करना क्षयोपशमलब्धि है।

द्वितीय—विशुद्धिलब्धि है' क्षयोपशमलब्धि के प्रभाव से अशुभ कर्मो का अनुभाग मन्द होने पर आत्मा के परिणामो मे संक्लेश की न्यूनता होती है और शुभ प्रकृतियो का वन्ध के कारणभूत शुभ परिणाम उत्पन्न होता है, वह विशुद्धिलब्धि है।

अतिचारो के विषय मे श्रीमद् उपासकदशाग में इस प्रकार पाठ मिलता है—'पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा' अर्थात् पाँचअतिचार ज्ञातव्य तो है परन्तु आचरणीय नही।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि जिसका आचरण ही नही करना है, उसे जानने से क्या लाभ है ? परन्तु हेय पदार्थ भी ज्ञेय होता है। जिसे हम जानेगे नही, उसके दुष्परिणाम से अपरिचित रहेगे और उसके त्याग की आवश्यकता भी अनुभव नही कर सकेंगे। कदाचित् अनजाने, देखादेखी या किसी के कहने मात्र से, त्याग कर भी दिया तो उस त्याग मे सकल्प का वल नही होगा। ऐसा त्याग निष्प्राण होगा। अतएव त्याज्य वस्तु के दोषो को भी उसी प्रकार समझना चाहिए, जिस प्रकार ग्राह्य वस्तु के गुणो को समझना आवश्यक है। इसी दृष्टि कोण से अतिचार भी 'जाणियव्वा' है। जो सम्यग्दृष्टि अतिचारो को भलीभाँति समझता है, वह सरलता से उनसे बच सकता है।

साधना का मूलाधार

साधना के क्षेत्र में सम्यग्दर्शन की जो महत्ता है, उसके संबंध मे बहुत कुछ कहा जा चुका है। आध्यात्मिक जैनसाहित्य में सम्यग्दर्शन का अत्यन्त विस्तृत, विशद, बारीक और हृदयस्पर्शी वर्णन हमे मिलता है। उस सब को आपके सामने प्रस्तुत करना शक्य नही है। आपके समक्ष तो कतिपय मूलभूत विषय ही रक्खे गये है। फिर भी कुछ अत्यावश्यक ज्ञातव्य विषय ऐसे है, जिनकी चर्चा यदि न की जाय तो सम्यग्दर्शन सम्बन्धी निरूपण अधूरा ही रह जाएगा। अतएव इस प्रकरण में ऐसे विषयो पर सक्षेप मे प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाएगा जो चर्चा करने से रहगये हैं। यद्यपि इसका आशय यह नही कि इतने मात्र से सम्यग्दर्शन के निरूपण मे पूर्णता आ जाएगी।

उत्पत्तिक्रम

जैनधर्म का यह दावा है कि संसार का प्रत्येक जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से सिद्ध, बुद्ध परमात्मरूप है। प्रत्येक आत्मा मे समान अनन्त ज्ञान-दर्शन की प्रखर ज्योति विद्यमान है। साधारण ससारी आत्मा और सिद्ध परमात्मा में जो अन्तर आज दृष्टिगोचर होता है, वह नैश्चयिक नही, व्यावहारिक है, पारमार्थिक नही,

तृतीय देशनालब्धि है। विशुद्धिलब्धि के प्रभाव से वीतराग देव की वाणी श्रवण करने की तथा साधुसगति करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इससे जीव को तत्त्व का सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है। यह देशनालब्धि कहलाती है।

चतुर्थ—प्रयोगलब्धि है, इसके पश्चात् जीव अपने परिणामो को विशुद्ध करता हुआ आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मो की स्थिति कुछ कम कोडाकोडी सागरोपम की कर लेता है और घातिक तथा अघातिक कर्मों के रस को तीव्रतर से कुछ मन्द करता है। यह प्रयोगलब्धि कहलाती है।

पञ्चम—करणलब्धि है, प्रयोगलब्धि के पश्चात् पाँचवी करणलब्धि मे तीन प्रकार के करण (आत्मपरिणाम) उत्पन्न होते है-यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इनका विवेचन पहले किया जा चुका है।

भेद-प्रभेद

अनन्तानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और समकितमोहनीय, यह सात प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन की विरोधी है। इनमे से पूर्ववर्त्ती छह प्रकृतियो का जब तक उदय बना रहता है, तब तक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नही होती। समकितमोहनीय उसके अस्तित्व मे बाधक नही है वह केवल निर्मलता मे बाधक होती है। यह प्रकृति सम्यग्दर्शन मे चचलता, मलीनता और अगाढता दोष उत्पन्न करती है।

हाँ, तो उक्त सात प्रकृतियो के उपशम से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन औपशमिक सम्यग्दर्शन[1] कहलाता है और सातो के क्षय से

---

१ प्रवचन सारोद्धार कर्मग्रन्थ प्रथम।

होने वाला क्षायिक सम्यग्दर्शन[1] । उदयागत मिथ्यात्वादि का क्षय होने पर और अनुदित का उपशम होने पर एवं सम्यक्त्वमोहनीय का उदय होने पर जो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, वह क्षायोपशमिक[2] कहलाता है।

इन तीन प्रकार के सम्यग्दर्शनो मे क्षायिक सम्यग्दर्शन सर्वाधिक निर्मल होता है। उसकी सत्ता सादि-अनन्त है, अर्थात् एक वार उत्पन्न होने के पश्चात् उसका नाश नही होता । उपशमसमकित एक अन्तर्मुहूर्त तक ही ठहर कर विलीन हो जाता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का अधिक से अधिक छ्यासठ सागरोपम (कुछ काल अधिक) तक अवस्थान रहता है।

सम्यक्त्व के लोकोत्तर अमी-रस का पान करके जीव जब पुन: मिथ्यात्व की ओर झुकता है तो इस परिवर्त्तन मे कुछ काल लगता है। सम्यक्त्व के शिखर से गिर कर जब तक मिथ्यात्व के गहरे गर्त्त मे नही पहुँचा है, तब तक वान्त सम्यक्त्व का किंचित् सस्कार अवशिष्ट रहता है उस समय की जीव की श्रद्धारूप परिणति सास्वादनसम्यक्त्व कहलाती है।

कभी-कभी ऐसी स्थिति भी होती है कि जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की प्रशस्त भूमिका पर आरूढ होने योग्य विशुद्धता को प्राप्त करता है। जब वह सम्यक्त्वमोहनीय के अन्तिम कर्मदलिको का अनुभव करता है, उस समय का उसका सम्यक्त्व 'वेदक' सम्यक्त्व कहलाता है। 'वेदक' सम्यक्त्व के अनन्तर ही जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

---

१. प्रवचन सारोद्धार कर्मग्रन्थ प्रथम ।

२ प्रवचन सारोद्धार कर्मग्रन्थ प्रथम ।

सम्यग्दर्शन के पृथक् पृथक् पहलुओं का बोध कराने के लिए अन्य अनेक प्रकार के भेद-प्रभेद भी किये गये है। उसके चार प्रकार से दो-दो भेद इस प्रकार है—

(१) द्रव्य सम्यक्त्व और भावसम्यक्त्व[1]

(२) निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व[2]

(३) पौद्गलिक सम्यक्त्व और अपौद्गलिक सम्यक्त्व[3]

(४) निसर्गज सम्यक्त्व और अधिगमज सम्यक्त्व[4]

विशुद्ध रूप मे परिणत किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गल द्रव्यसम्यक्त्व कहलाते है। और उन पुद्गलो के निमित्त से होने वाली तत्त्वश्रद्धा भावसम्यक्त्व कहलाती है।

राग द्वेष और मोह का अत्यन्त मन्द हो जाना, आत्मिक गुणो में रमण करना, पर-पदार्थो से आत्मीयता का भाव हट जाना एव देह में रहते हुए भी देहाध्यास का छूट जाना निश्चयसम्यक्त्व है। अरिहन्त भगवान् को देव मानना, पच महाव्रतो का पालन करने वाले मुनियो को गुरु मानना और जिनेन्द्रप्ररूपित धर्म को ही श्रेयस्कर धर्म समझना व्यवहार सम्यक्त्व है।

---

१. प्रवचन सारोद्धार द्वार १४६ गा० ६४२ टीका।

२. (क) प्रवचन सारोद्धार द्वार १४६ गा० ६४२ टीका।
   (ख) कर्मग्रन्थ प्रथम गा० १५

३. प्रवचन सारोद्धार

४. (क) स्थानाङ्ग २, उ० १—सूत्र ७०
   (ख) प्रज्ञापना प्रथम पद सू० ३७
   (ख) तत्त्वार्थ सूत्र प्र० अ० सूत्र ३

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पौद्गलिक सम्यक्त्व कहलाता है और क्षायिक तथा औपशमिक सम्यक्त्व अपौद्गलिक सम्यक्त्व। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था में कर्मप्रद्गलो का प्रदेशानुभव होता है, किन्तु क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व में न प्रदेशानुभव होता है और न विपाकानुभव ही।

निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व के सम्बन्ध में पूर्व हा कहा जा चुका है।

अपेक्षाभेद से सम्यक्त्व तीन प्रकार से भी निरूपित किया गया है। क्षायिक आदि तीन भेदो का उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु कारक रोचक और दीपक के भेद से भी उसके तीन भेद होते है।[1]

त्रिविध दर्शन :

कारकसम्यक्त्व :—जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जीव सम्यक्चारित्र के प्रति विशिष्ट रुचिमान् बनता है, स्वयं चारित्र का पालन करता है तथा दूसरो से करवाता है, वह कारकसम्यक्त्व है।

रोचकसम्यक्त्व – जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर प्राणी सयमपालन मे रुचि तो रखता है, किन्तु चारित्रमोह के उदय से रुचि के अनुरूप चारित्र का पालन नही कर सकता, वह रोचकसम्यक्त्व है।

दीपकसम्यक्त्व :—जिस जीव की रुचि सम्यक् नही होती किन्तु जो अपने उपदेश से दूसरो में रुचि उत्पन्न करता है, उसकी परिणति दीपकसम्यक्त्व कहलाती है। यह सम्यक्त्व, दूसरो के सम्यग्दर्शन का कारण होने से उपचार से ही सम्यक्त्व कहलाता है। अनेक जीव

---

१. क—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २६७५, ख—द्रव्य लोक प्रकाश, तृतीय सर्ग ६६८ से—६७०। ग—धर्म सग्रह, घ—श्रावक प्रज्ञाप्ति गाथा ४९—५०

ऐसे भी होते है जो अनेको को तार देते हैं, किन्तु स्वय नही तर पाते। वे ससार-सागर मे ही गोते खाते रहते है।

दशविध रुचि :

श्री उत्तराध्ययन शास्त्र में दस प्रकार की रुचि का भी निरूपण किया गया है, यथा—

निसग्गुवएसरुई, आणारुई सुतबीअरुइमेव।
अभिगम वित्थाररुई, किरिया संखेवधम्मरुई॥

— उ० अ० २८, गा० १६

(१) निसर्गरुचि—परोपदेश के बिना ही, सम्यक्त्व आवरक कर्मो की विशिष्ट निर्जरा हो जाने से उत्पन्न होने वाली तत्त्वार्थ श्रद्धा।

(२) उपदेशरुचि—लोकोत्तर महिमा से मण्डित त्रिजगत्-महित अरिहन्त भगवान् के अथवा उनके अनुगामी मुनि आदि के उपदेश को श्रवण करने से उत्पन्न होने वाली तत्त्वश्रद्धा।

(३) आज्ञारुचि- अर्हन्त भगवान् की आज्ञा का आराधन करने से उत्पन्न होने वाली तत्त्वरुचि।

(४) सूत्ररुचि—द्वादशाग रूप श्रुत का अभ्यास करते-करते उत्पन्न होने वाली रुचि, अथवा ज्ञान के परम रस-सरोवर मे आत्मा को निमग्न करने की रुचि सूत्ररुचि है।

(५) बीजरुचि - जैसे छोटे-से बीज से विशाल वटवृक्ष उत्पन्न हो जाता है अथवा पानी मे डाला हुआ एक तैलबिन्दु खूब फैल जाता है, उसी प्रकार एक शास्त्रीय पद का भी अनेक पदो के रूप मे परिणत हो जाना बीजरुचि है।

(६) अभिगमरुचि— अंगोपांगों के अर्थ रूप ज्ञान की विशेष शुद्धि होने से तथा दूसरों को ज्ञानाभ्यास कराने से होने वाली रुचि।

(७) विस्ताररुचि—षट्द्रव्य, नौ तत्त्व, द्रव्य गुण पर्याय प्रमाण, नय, निक्षेप आदि का विस्तारपूर्ण अभ्यास करने से उत्पन्न होने वाली रुचि।

(८) क्रियारुचि—विशेष रूप से क्रिया करने से उत्पन्न होने वाली रुचि।

(९) संक्षेपरुचि—स्वल्प ज्ञान से ही उत्पन्न हो जाने वाली रुचि।

(१०) धर्मरुचि – वीतरागप्ररूपित धर्मश्रवण करने से होने वाली रुचि।

सम्यग्दर्शन रूप—तरु अत्यन्त विशाल है। उसकी शाखाएँ प्रशाखाएँ अनेक हैं। यहाँ सक्षेप में उनका उल्लेख किया गया है।

सम्यग्-दर्शन के भूषण

जैसे स्वर्णनिर्मित आभूषण मणिजटित होने पर अधिक सुशोभन हो जाता है अथवा निसर्ग-सुन्दर शरीर श्रेष्ठ वसनाभूषणों से खिल उठता है, उसी प्रकार सहज-सुन्दर सम्यक्त्व के भी कुछ भूषण हैं, जिनके कारण उसमे विशिष्ट सौन्दर्य आ जाता है। वे निम्नलिखित हैं :—

स्थैर्यं प्रभावना भवति, कौशलं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पञ्चास्य, भूषणादि प्रचक्षते॥

(१) स्थिरता—जिन शासन मे स्वयं दृढ होना और दूसरों को दृढ बनाने का प्रयत्न करना।

(२) प्रभावना—जिनशासन के सम्बन्ध में फैले हुए अज्ञान का निराकरण करके, उसके लौकिक एव लोकोत्तर माहात्म्य को प्रकाशित करना।

(३) भक्ति—गुरुजनो का यथोचित विनय करना, वैयावृत्य (सेवा) करना, ज्ञान एव चारित्र आदि गुणो मे जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, उनका औचित्य के अनुरूप सत्कार-सम्मान करना।

(४) कौशल—सर्वज्ञप्ररूपित सिद्धान्त मे कुशल होना, उसके बाह्य शाब्दिक रूप मे ही न उलझे रहकर मर्म को समझना, प्रत्येक विधि-विधान के हार्द तक पहुँचना और तात्पर्य को अवगत करने का कौशल प्राप्त करना।

(५) तीर्थसेवा—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, यह चार तीर्थ है। इनकी यथानुरूप सेवा करना, अपने आपको इनकी सेवा मे समर्पित मानना।

इन पाँच आभूषणो[1] से सम्यक्त्व भूषित होता है और आत्मा मे एक प्रकार की अनूठी चमक पैदा होती है।

सम्यग्दर्शन की भावनाएं :—

एक विचार की अन्तरता मे पुन. पुन आवृत्ति की जाती है, तब वह भावना का रूप ग्रहण करता है। ऐसा करने से विचार में सबलता आती है, आन्तरिक क्षमता का विकास होता है और तदनुरूप व्यवहार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। यही कारण है कि जिनागम मे प्रत्येक व्रत की भावनाएँ निर्दिष्ट कर दी गई है। मगर सम्यग्दर्शन तो समस्त व्रतो का आधारस्तम्भ है। उसकी सत्ता एव सबलता

१. धर्म सग्रह अधिकार २, श्लोक २२, टीका।

पर ही व्रतो की सत्ता और सबलता निर्भर है। अतएव सम्यक्त्व को सबल एवं सक्षम बनाने के लिए भावनाओ का होना अनिवार्य है।

अन्यान्य व्रतो की पाँच-पाँच भावनाएँ है, जब कि सम्यग्दर्शन की छह भावनाएँ प्रतिपादित की गई है,[1] जो इस प्रकार है —

(१) धर्म यदि विशाल वृक्ष है तो सम्यक्त्व उसका मूल है। मूल के अभाव मे वृक्ष स्थिर नहीं रह सकता और यदि मूल सुदृढ हो तो वृक्ष भी सुदृढ रह सकता है। वह आँधी—तूफान आदि के आक्रमण को सहन कर लेता है। ठीक इसी प्रकार धर्म रूपी वृक्ष सम्यग्दर्शन के बिना टिक नही सकता। इसके विपरीत यदि सम्यक्त्व दृढ हुआ तो विकराल विघ्न बाधाओ की विद्यमानता मे भी धर्म स्थिर रह सकता है। सम्यक्त्व रूपी मूल के होने पर ही धर्मवृक्ष मे जीवदया आदि के सुकोमल पल्लव उगते है, सदगुणो के सौरभसमन्वित सुमन विकसित होते है और अनन्त अखण्ड अनाबाध अक्षय सुख रूपी फल का उद्गम होता है।

(२) सम्यक्त्व, धर्म रूपी नगर का विशाल प्राकार है। जसे प्राकार से सुरक्षित नगर पर शत्रु सरलता से हमला नही कर सकता, उसी प्रकार सम्यक्त्व के द्वारा सुरक्षित धर्म पर भी विरोधी सहज आक्रमण नही कर सकते। जैसे नगर मे प्रवेश करने के लिए प्राकार के द्वार से ही जाना पडता है, उसी प्रकार धर्मपुर मे प्रवेश करने के लिए भी सम्यक्त्व-द्वार से ही जाना पडता है।

(३) सम्यक्त्व, धर्म रूपी प्रासाद की नीव है। नीव जितनी मजबूत होगी, प्रासाद भी उतना ही मजबूत होगा। महल की स्थिरता

---

[1] (क) प्रवचन सारोद्धार द्वार १४८ गा. ९४०

(ख) धर्म सग्रह अधिकार २ श्लोक २२ टीका पृष्ठ ४३

नीव की स्थिरता पर ही निर्भर है। इसी प्रकार धार्मिक दृढता सम्यक्त्व की दृढता पर ही निर्भर है। जिसका सम्यक्त्व अडिग है, वही धर्म से अडिग रह सकता है।

(४) सम्यक्त्व धर्म रूपी रत्न की मजूषा है। लोक मे मूल्यवान् रत्न को सुरक्षित रखने के लिए मजूषा की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार धर्म - रत्न की सुरक्षा के लिए सम्यक्त्व की आवश्यकता है।

कोई लौकिक रत्न, चाहे वह कितना ही कीमती क्यो न हो, अन्तत जड़ है, पौद्गलिक है और उससे आत्मा का वास्तविक हित सिद्ध नही हो सकता। पारलौकिक दृष्टि से उसका कुछ भी मूल्य नही है। परन्तु धर्म आत्मा की अपनी सम्पत्ति है। उससे इह-परलोक मे असीम उपकार होता है। उसकी सुरक्षा मे ही आत्मा का कल्याण है। अतएव धर्म की रक्षा के लिए सम्यक्त्व की रक्षा करना आवश्यक है।

(५) सम्यक्त्व धर्म रूपी भोजन का पात्र है। पात्र के अभाव मे भोजन ठहर नही सकता, उसी प्रकार समकित के अभाव मे धर्म नही ठहर सकता।

(६) सम्यक्त्व धर्म रूपी किराने का कोठा है। जैसे छिद्ररहित कोठे मे रक्खा हुआ किराना चोर, चूहा, आँधी-पानी आदि के उपद्रव से सुरक्षित रहता है। उसी प्रकार धर्म-किराना निश्छिद्र--निरतिचार सम्यक्त्व की विद्यमानता मे कठिन से कठिन बाधाएँ भी धर्म को विकृत या नष्ट नही कर सकती।

सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाना आत्मा के लिए महान् से महान् लाभ है सम्यक्त्व, मोक्ष प्राप्ति का अधिकार पत्र है। अतएव उसकी प्राप्ति के लिए, प्राप्त की सुरक्षा के लिए और सुरक्षित

को उज्ज्वल बनाने के लिए इस प्रकार का चिन्तन अतीव उपयोगी है। इन भावनाओं से सम्यक्त्व के प्रति समादर बुद्धि उत्पन्न होती है, उसके महत्त्व की प्रतीति होती है और उसको निर्दोष बनाये रखने के लिए उद्योग करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

छह स्थान

चाहे सम्यग्दर्शन हो या सम्यग्ज्ञान अथवा शम, दम, यम, नियम आदि सम्यक्चारित्र हो, सब शुद्ध आत्मस्वरूपोपलब्धि के लिए है। इन सब का आधार आत्मा ही है। जिसे आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नही है, सम्यग्दर्शन उससे कोसो दूर है। अतएव सर्वप्रथम आत्मा के अस्तित्व और उसके समीचीन स्वरूप को समझना आवश्यक है। इसी अभिप्राय से सम्यग्दर्शन के छह स्थान[1] आधार निरूपित किये गये है—

(१) आत्मा है।

(२ आत्मा द्रव्यत नित्य है।

(३) आत्मा अपने कर्मों का कर्त्ता है।

(४) आत्मा कृत कर्मों के फल का भोक्ता है।

(५) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

(६) मुक्ति का उपाय है।

---

[1] (क) प्रवचन सारोद्धार द्वार १४८ गा ६४१

(ख) धर्म संग्रह अधि २ श्लो २०

वह छह स्थान समस्त साधना और आराधना के प्रधान केन्द्रबिन्दु हैं। इनका विस्तारपूर्वक विचार करके, तर्क द्वारा विश्लेषण करके निश्चय करना चाहिये।

हाँ तो सक्षेप मे सार यह है कि साधना का मूलाधार सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति ही यथार्थ द्रष्टा बनता है, उसमें सतत सत्य की लौ जलती है, अनुत्तर-ज्ञान धारा मे आत्मा को भावित करता हुआ आध्यात्मिक ज्योति जगाता है।

सम्यग्ज्ञान : एक परिशीलन

अन्तर का आलोक

ज्ञान की महिमा

जीव यद्यपि अनन्त गुणो की बहुमूल्य समृद्धि से परिपूर्ण है तथापि उसमें चेतना समृद्धि ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। चेतना की अनिर्वचनीय चिनगारी से प्रस्फुटित ज्ञानालोक पर ही अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के अस्तित्व की अनुभूति अवलम्बित है।

दिवाकर की प्रखर रश्मियाँ जब अस्ताचल के अंक में विलीन होकर विश्राम करती है और यह जगत् सघन अंधकार के कृष्णवर्ण आवरण मे अन्तर्हित हो जाता है, तो प्रतीत होता है, मानो एक प्रकार की सर्वव्यापी शून्यता ने अखिल लोक को निगल लिया है। अशेष निश्शेष मे समा गया है। सर्वत्र नीरवता, जड़ता, सुषुप्ति और अनस्तित्व का एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो गया है।

किन्तु वही दिवाकर जब उदयाचल की ओट मे, उस शून्यता—अपनी करामात—का अवलोकन करने के लिए झाकता है तो जगत् में जागृति के प्राणो का अभिनव स्पन्दन हो उठता है। सूर्य की स्वर्णरश्मियो का ससर्ग पा कर सृष्टि पुन. प्रकाशमान हो उठती है; उसकी विविधता जैसे लौट आई हो।

यह उस प्रकाश का महत्त्व है जिसे हम बाह्य, जड या पौद्गलिक कहते है। इस प्रकाश के प्रकाश मे देखने पर शायद आन्तरिक-आत्मिक प्रकाश की महिमा का किंचित् आकलन किया जा सकता है। ज्ञान के आलोक मे ही हम अपने एव बाह्य जगत् के अस्तित्व को पहचान पाते है। ज्ञान है तो सब कुछ है, नही है तो कुछ भी नहीं है।

ज्ञान-ज्ञेय का सम्बन्ध

इस कथन का आशय यह न समझिए कि ज्ञेय की सत्ता ज्ञान पर निर्भर है। ज्ञेय अपने स्वरूप मे और ज्ञान अपने स्वरूप मे स्थित है। एक की सत्ता दूसरे पर अवलम्बित नही है। निविड अन्धकार की स्थिति मे भी पदार्थराशि का अभाव नही हो जाता। नेत्रहीन पुरुष भले पदार्थों का अवलोकन न कर सके, तथापि उनका अस्तित्व तो अक्षुण्ण ही है। हम न जाने या अन्यथा जानें, पदार्थ अपने स्वरूप मे अवस्थित और अचल ही रहता है। तथापि पदार्थ की अभिव्यक्ति एव अनुभूति ज्ञान के ही अधीन है। हमे प्रत्येक पदार्थ की सत्ता का आभास-प्रतिभास ज्ञान के बिना नही होता। ज्ञान के अभाव मे वस्तु की सत्ता, असत्ता से अधिक मूल्य नही रखती।

ज्ञान-ज्ञाता का सम्बन्ध

ज्ञान ही जड और जीव की विभाजक रेखा है, इसी कारण आचार्य कहते है—'जीवो उवओग मओ' अर्थात् जीव उपयोगमय है—ज्ञान दर्शनस्वरूप है। ज्ञानगुण की बदौलत ही आत्मा इतर द्रव्यो से भिन्न है। आत्मा ज्ञाता है, इतर द्रव्य ज्ञेय है।

आत्मा और ज्ञान मे गुण-गुणी-सम्बन्ध है। गुणी आत्मा और गुण ज्ञान है, किन्तु जैनदर्शन, कणाद की तरह गुण-गुणी मे एकान्त पार्थक्य स्वीकार नही करता और न एकान्त अभेद ही। एकान्त पार्थक्य मानने पर दोनो का सम्बन्ध घटित नही होता और एकान्त

अभेद मानने से दोनों में से किसी एक की ही सत्ता रह सकती है। गुणी माना जाय या गुण ही। मगर ऐसा मानने में भी समस्या का समाधान नही होता। जगत् में गुण के अभाव में गुणी का और गुणी के अभाव मे गुण का अस्तित्व नही देखा जाता।

विस्मय का विषय है कि कपिल जैसे दार्शनिक ज्ञान (बुद्धि) को जड प्रकृति का कार्य मानते है। उनकी यह मान्यता आत्मा के अस्तित्व का अपलाप करने वाले चार्वाक-दर्शन से मेल खाती है। चार्वाक चार भूतो के अतिरिक्त आत्मतत्त्व को स्वीकार नही करता, किन्तु स्वसवेदनसिद्ध चैतन्य से कैसे इन्कार कर सकता है? इस कारण वह चैतन्य को भूतधर्म मानने के लिए विवश है, मगर कपिल के सामने यह लाचारी नही थी। उन्होने प्रकृति (जडतत्त्व) से सर्वथा पृथक् पुरुष (आत्मा) तत्त्व स्वीकार किया है। फिर बुद्धि को पुरुष का धर्म न मानकर प्रकृति का कार्य स्वीकार करने का क्या रहस्य हो सकता है? सभवतः आत्मा की कूटस्थ नित्यता की रक्षा करने के लिए ही उन्हे इस प्रकार की तर्क एव अनुभव से विरुद्ध कल्पना करनी पडी है।

कुछ भी हो, निश्चित है कि ज्ञान न तो आत्मा से सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न है और न जड का धर्म या कार्य है। उसका आत्मा के साथ, गुण-गुणी का भेद परक सम्बन्ध होने पर भी वस्तुतः अभेद है। चेतना के बिना आत्मा की और आत्मा के बिना चेतन की कल्पना ही नही की जा सकती। जैनागम का यह निर्णय असदिग्ध है—

जे आया से विण्णाया।
जे विण्णाया से आया।

—आचाराङ्ग

तो ज्ञान आत्मा का सहज स्वभाव है। ज्ञान से ही आत्मा ज्योतिर्मय है। कहा है—

तमो धुनीते कुरुते प्रकाशं,
शमं विधत्ते विनिहन्ति कोपम्।
तनोति धर्मं विधुनोति पापं,
ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम्॥

सचमुच ज्ञान कल्पवृक्ष से भी बढकर अभीष्ट की सिद्धि करने वाला है। कामधेनु के समान अमृत प्रदान करने वाला है। कामकुम्भ ज्ञान के सामने तुच्छ है। यहाँ तक कि चिन्तामणि के साथ भी उसकी तुलना नही हो सकती। अभीप्सित प्रदान करने वाले इन सब दैवी पदार्थों का सामर्थ्य सासारिक विभूतियो तक ही सीमित है। आत्मिक वैभव तक इनकी पहुँच नहीं है। कल्पपादप आत्मा को भुलावे मे डाल सकता है, कामधेनु कामना के कीचड मे फँसा सकती है, कामकुम्भ कामभोग के असीम एव अतल अम्भोनिधि मे निमग्न कर सकता है और चिन्तामणि की चकाचौध नेत्रो की विद्यमान विवेकज्योति को भी विलुप्त कर सकती है। इनमें आत्मा को भ्रम के अधकार से उबारने की क्षमता नही। आन्तरिक आलोक की आभा उत्पन्न करना इनके वश की बात नही है। मगर ज्ञान? समग्र सृष्टि मे कौन-सा लौकिक और लोकोत्तर अभीष्ट है, जो ज्ञान के द्वारा साध्य न हो? जिन प्राकृतिक शक्तियो के सामने, किसी युग का मानव भयाकुल होकर नतमस्तक हो जाता था, दैन्य से अभिभूत होकर गिडगिडाता था और दैवी चमत्कार मान कर अनुनय-विनय करता था, वि-ज्ञान की बदौलत आज वही शक्तियाँ मानव-जाति की क्रीत दासी बन गई है। वि-ज्ञान का सहारा पाकर मनुष्य आज विहगम से भी बढकर व्योम मे स्वच्छन्द विचरण करता

है, सागर के वक्षस्थल को विदीर्ण करके यात्रा करता है। वि-ज्ञान ने जगत् के चिरपुरातन कलेवर मे नूतनता के प्राण प्रतिष्ठित कर दिये है, उसे नव्य भव्य और कह सकते है दिव्य स्वरूप प्रदान किया है। सृष्टि का कोना-कोना ज्योतिर्मय हो उठा है। जब बाह्यज्ञान की इतनी क्षमता है तो आध्यात्मिक ज्ञान की क्षमता की समता कहाँ मिल सकती है ? अतएव कवि ने यथार्थ ही कहा है—

ज्ञान न कि कि कुरुते नराणाम् ?

बाह्य-आन्तरिक प्रकाश

ज्ञान अन्धकार को नष्ट करके चेतनमय प्रकाश की प्रभास्वर रश्मियाँ विकीर्ण करता है।

सूर्य और चन्द्र प्रकाश के पुज माने जाते है। प्रदीप भी प्रकाश प्रदान करता है। विद्युत् का प्रकाश भी अधकार का विनाशक है। परन्तु इस पुद्गलमय प्रकाश मे और ज्ञान-प्रकाश मे महदन्तर है।

नयनहीन मानव को सूर्य, चन्द्र, विद्युत्-वल्व और सहस्रो प्रदीप भी मिलकर प्रकाश नही दे सकते, क्योकि उसे अपना चेतनमय प्रकाश प्राप्त नही है। अतएव स्पष्ट है कि पौद्गलिक प्रकाश, आत्मीय प्रकाश के अभाव मे निरुपयोगी है, पंगु है।

पुद्गलमय प्रकाश रूपवान् होने के कारण रूपवान् वस्तुओ को ही प्रकाशित कर सकता है। मगर सव रूपवान् भी उसके दायरे मे नही आते। इस लोकाकाश के प्रदेश-प्रदेश मे अवगाढ अनन्त-अनन्त परमाणु और वहुतसे स्कध (परमाणु पिण्ड) भी ऐसे है, जिन तक पुद्गलमय प्रकाश की पहुँच नही है। इसके अतिरिक्त, जगत् केवल पुद्गलो का ही प्रचय तो नहीं है। छह द्रव्यो मे से पुद्गल एक है

और पाँच द्रव्य उससे भिन्न है, जिनमे न रूप है, न रस है, न गध है, न स्पर्श है। यह अरूपी द्रव्य आंशिक रूप से भी पौद्गलिक प्रकाश के गोचर नही है।

पौद्गलिक प्रकाश परावलम्बी और ससीम होने के साथ-साथ अस्थायी भी है। सूर्य सदा उदित नही रहता। चन्द्रमा की भी यही गति है। अन्यान्य प्रकाश भी इसी प्रकार के है। किन्तु ज्ञान-प्रकाश की बात निराली है। वह न परावलम्बी है। न उसकी कोई निर्धारित सीमा है। जब वह अपने शुद्ध स्वरूप मे अभिव्यक्त होता है तो विश्व की समस्त भावराशि, भले वह स्थूल हो या सूक्ष्म, रूपी हो अथवा अरूपी, जड हो या चेतन, उसके द्वारा पूर्ण रूपेण आलोकित हो उठती है।

जीव के समस्त दुःखो का मूल विषमभाव है। विषमभाव से आत्मा की शमपरिणति भग्न हो जाती है और कषाय का दावानल सुलग उठता है। किन्तु प्रश्न यह है कि विषम-भाव का उद्गमस्थल क्या है? गभीरतापूर्वक विचार करने पर विदित होगा कि मूढता ही विषमभाव की जननी है। जब मूढता का अन्त और ज्ञान का उन्मेष होता है तो वस्तुस्वरूप को यथावस्थित रूप मे समझना संभव हो जाता है और तब विषमभाव की भी इति हो जाती है। अतएव कहा गया है कि ज्ञान शमभाव को जागृत करता है और क्रोधादि कषायो का उन्मूलन कर देता है।

धर्म की आराधना का मूल आधार ज्ञान ही है। शास्त्र कहता है—

अन्नाणी कि काही,
किं वा नाहीइ छेय-पावगं।

दशवै० अ ४—गा० १०

अज्ञान के तामस आवरण से आवृत बेचारा अज्ञानी पुण्य-पाप के पार्थक्य ज्ञान से भी अनभिज्ञ रहता है। वह पाप से पृथक् रहकर किस प्रकार पुण्य-आचरण कर सकता है ?

अमावस्या की निविड अंधकारमयी रजनी में, अरण्य में विचरण करने वाला पथिक भटक जाता है। कुमार्ग पकड कर किसी गहरे गर्त में गिरता है या ठोकरे खाता है या कँटीली झाडियो मे उलझ जाता है। कभी-कभी वह ऐसी राह पकड लेता है जो उसे मंज़िल तक पहुँचाने के बदले और अधिक दूरी पर ले जाती है। अज्ञान मनुष्य की धर्माराधना की भी ऐसी ही स्थिति होती है।

कभी-कभी अज्ञानी जीव भी कठिन तपश्चर्या करता है, देहदमन करता है, मास-मास का उपवास करके काया को कृशतर कर लेता है, पंचाग्नि तप कर विकारो को भस्म करने की धारणा करता है परन्तु हन्त! उसका प्रयास ज्ञान के अभाव में निरर्थक ही सिद्ध होता है। यही नही, अग्निकाय का घोर आरभ और कन्दमूलादि का भक्षण जैसी क्रियाएँ उसे विपरीत ही दिशा में ले जाती है। जिसे आत्मा-अनात्मा का विवेक नही, आस्रव-संवर की पहचान नही, बन्ध-निर्जरा का भान नही, उसकी साधना का पथ यदि विपरीत दिशागामी हो तो आश्चर्य ही क्या ?

श्रमण भगवान् श्री महावीर ने ज्ञान-अज्ञान का अन्तर समझाते हुए कहा है—

जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा।

—आचाराङ्ग सूत्र

थोडे से शब्दो में कितना विशाल आशय भर दिया गया है ! इसी को कहते है—गागर मे सागर भर देना ।

वहुत वार अज्ञ और विज्ञ पुरुष की वाह्य क्रियाएं ।ऊपर-ऊपर मे समान दृष्टिगोचर होती है। परन्तु उनके आन्तरिक रूप और विपाक मे आकाश-पाताल से कम अन्तर नही होता। अज्ञ पुरुष कर्मक्षयकारी क्रियाओ को भी कर्मवन्ध का हेतु वना लेता है, जव कि ज्ञानी पुरुष कर्मवन्ध के कारणो का कर्मक्षय का कारण वना लेता है। निष्कर्ष स्पष्ट है—ज्ञान ही निश्रेयस् के पथ के पथिक के लिए प्रदीपालोक है और ज्ञान ही कलमप की तिमिर-कालिमा को दूर कर मकता है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु के लिए अनिवार्य है कि जव वह साधना की वीहड पगडडी पर प्रस्थान करने को प्रस्तुत हो तो ज्ञान की मसाल अपने माथ रक्खे ।

ज्ञान और सुख

यद्यपि ज्ञान और सुख पृथक्-पृथक् आत्म धर्म गिने गये है, तथापि दोनो मे अत्यन्त घनिष्ठ सम्वन्ध है। ज्ञान की कृतार्थता सुख की सम्प्राप्ति मे है और सुख संवेदना से शून्य नही हो सकता। जड पदार्थ ज्ञान शून्य होने के कारण सुख से भी रहित है। सामारिक सुख साता-वेदन और दु ख असातावेदन कहलाता है। इसका आशय यह है कि हमारे सुख-दु ख एक विशिष्ट प्रकार की वेदना-अनुभूति ही है। ज्ञान और सुख का सम्वन्ध प्रकट करते हुए किसी सन्त ने कहा है—'ज्ञान सुखो की खान ।'

मगर एक प्रश्न सामने आता है। एक व्यक्ति आनन्द के साथ अपना काल-यापन कर रहा है। उसे समस्त सुख-सामग्री प्राप्त है। उसके हृदय मे किसी प्रकार का शल्य नही है। परदेश मे पेढी है। विपुल आय है। विनीत परिवार है। अकस्मात् परदेश मे स्थित

उसके पुत्र के हृदय की गति बन्द हो जाती है और उसका प्राणान्त हो जाता है। डाक-तार-कर्मचारियो की हडताल के कारण अव्यवस्था होने से पाँच दिन बाद उस व्यक्ति को अपने पुत्र की मृत्यु का पता चलता है।

जब तक उसे पुत्र की मृत्यु का ज्ञान नही था, वह सुख-चैन मे था। ज्ञान होते ही उसका समग्र सुख, सहस्रगुणित दु ख के रूप में परिणत हो गया। ऐसी स्थिति मे ज्ञान को सुख की खान समझा जाय या दु.ख की खान ?

अज्ञानवादी इसी प्रकार के तर्क उपस्थित करके ज्ञान की हेयता और अज्ञान की उपादेयता सिद्ध करने का प्रयास करते है। उनके मन्तव्य के अनुसार अज्ञान ही श्रेयस्कर है। जिन जड पदार्थो मे लेश मात्र भी ज्ञान नही है, वे सब प्रकार की दु खानुभूति से बचे हुए हैं। उन्हे न चिन्ता है, न शोक है, न खेद है, न उद्वेग है। अपने स्वभाव मे मस्त है। किन्तु—अज्ञानवादी का यह तर्क वस्तुत. अज्ञानप्रसूत ही है।

एक व्यक्ति की मृत्यु का विभिन्न लोगो पर अलग-अलग प्रकार का असर होता है। गाधीजी ने भारतवर्ष के लिए क्या नही किया ? स्वदेश की स्वाधीनता के लिए अपने सुखो का बलिदान किया, घोर से घोर यातनाएँ सहन की। उनकी समस्त शक्तियाँ स्वदेशवासियो के हित के निमित्त ही समर्पित रही। उनके मारे जाने का समाचार फैलते ही न केवल भारतवर्ष, वरन् ससार भर के विचारशील लोग शोक-सागर में निमग्न हो गये। परन्तु तब भी गोडसे जैसी विचारधारा के लोगो ने घी के दिये जलाए।

इन परस्पर विरुद्ध दिशागामी प्रभावो के रहस्य का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी घटना मनुष्यो की विभिन्न

प्रकार की मनोवृत्तियो के कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के असर पैदा करती है। घटना अपने आप मे कोई प्रभाव नही रखती। ऐसा होता तो एक घटना का प्रभाव सभी पर एक-सा होता। पुत्र की मृत्यु का समाचार ज्ञात करके पिता को जो असीम दुख-वेदना होती है, उसका प्रधान कारण, उसकी पुत्र के प्रति रागात्मिका मनोवृत्ति है।

ससार मे प्रतिदिन सहस्रो मानव काल की विकराल दाढो मे पिस रहे है। कौन किसके लिए मातम मनाने बैठता है। मगर जिसका जिसके प्रति अनुराग-मोह है, वही उसके लिए शोक का अनुभव करता है। अतएव स्पष्ट है कि दु.ख और शोक मोहजनित है, ज्ञानजनित नही।

ज्ञान और भय

भय के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए। जब तक बगल मे बैठे सर्प का पता नही चलता, मनुष्य निर्भय रहता है। पता चलते ही वह भय के कारण काँप उठता है और भागना सभव हो तो भाग खडा होता है। किन्तु इस प्रकार की भीति के अन्तस्तल मे भी प्राणो का मोह ही छिपा है। मनुष्य चिडियाघर मे जाकर भयकर से भयकर नाग को देखता है, कई बार उसके साथ छेड़छाड़ भी करता है, मगर मन ही मन जानता है कि यह मुझे डँस नही सकता, अतः भयभीत नही होता। नाग का ज्ञान ही यदि भय का कारण होता तो चिड़ियाघर के पीजरे मे बन्द नाग का ज्ञान भी भय उत्पन्न करता।

अभिप्राय यह है कि ज्ञान दुख और भय का जनक नही। यही नही, वह आनन्द और निर्भयता का अखण्ड स्रोत भी है। जब तक बालक की इन्द्रियो का विकास नही होता, वह अबोध रहता है, तब तक माता की गोदी से अलग होते ही डरता और रोता है, किन्तु ज्यो-ज्यो उसके ज्ञान का विकास होता जाता है, उसमें निर्भीकता

आती जाती है। ज्ञान का परम प्रकर्ष होने पर तो मनुष्य मे ऐसी निर्भयता आ जाती है कि विकराल से विकराल राक्षस भी उसे भयभीत नही कर सकता। इस सत्य को समझने के लिये हमे अतीत की ओर झाँकना चाहिये। गजसुकुमार जैसे अगणित सन्त और कामदेव तथा अर्हन्नक जैसे श्रमणोपासक इस सचाई के मूर्त्तिमान प्रमाण है।

ज्ञान के प्रकाश में शोक, दु:ख और भय जैसी वृत्तियो के लिए कोई अवकाश नही। यह वृत्तिया अज्ञान से ही प्रस्तुत होती है। व्यासजी ने ठीक ही कहा है—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यते महतो भयात्।

—भागवत; वनपर्व।

प्रज्ञा (ज्ञान) के प्रासाद पर आरूढ होकर ही मनुष्य भय से छुटकारा पा सकता है। भय एक प्रकार का मानसिक रोग है। ज्ञान ही इस रोग की सर्वोत्तम औषध है। भारत के प्राचीन राजनीतिज्ञ कौटिल्य का कहना है

न संसारभयं ज्ञानवताम्।

ज्ञान के प्रखर प्रकाश मे विचरण करने वाले पुरुषो के पास सासारिक भीति नही फटक सकती। क्योकि 'विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्त्तते' अर्थात् ज्ञान के प्रदीप का प्रकाश फैलते ही भय का अन्धकार दूर हो जाता है।

अतीत के उदाहरणो तथा विद्वानो की साक्षियो की रोशनी मे यदि हम अपनी बुद्धि से विचार करे तो स्पष्ट हो जायेगा कि दु:ख, शोक, सन्ताप और भय को जीतने के लिए ज्ञान ही सर्वोत्तम साधन है।

साधना का प्रकाशस्तम्भ: सम्यग्ज्ञान

ज्ञान की पूर्णता

प्रत्येक आत्मा, अनन्त एव असीम ज्ञान से सम्पन्न है। विश्व में जो भी स्थूल-सूक्ष्म, मूर्त्त-अमूर्त्त, चेतन-अचेतन भावराशि है और उसके जितने भी त्रैकालिक स्व-पर पर्याय है, विशुद्ध-ज्ञान के भी उतने ही पर्याय है। जब अपने समस्त पर्यायो के साथ ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, तभी उसमे परिपूर्णता आती है। ज्ञान की यही पूर्णता सर्वज्ञता कहलाती है।

ज्ञान के तारतम्य का आधार

जैन दर्शन, आत्माओ की अनेकता के साथ स्वभावगत सदृशता को भी स्वीकार करता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आत्मा मे, फिर वह किसी भी स्थिति मे क्यो न हो, अनन्त एव परिपूर्ण ज्ञान शक्ति विद्यमान रहती है।

आत्मिक शक्तियो के विकास की चरम सीमा मुक्तात्माओ मे पाई जाती है और ह्रास की चरम सीमा निगोदगत जीवो मे। इन दोनो चरमान्तो के मध्य अनन्त-अनन्त माध्यमिक स्थितियाँ है जो ज्ञान के विकास के तारतम्य को प्रकट करती हैं।

स्वभावगत सादृश्य होने पर भी विभावगत इस तारतम्य का कारण है आवरण। ज्यो-ज्यो आवरण की सघनता बढ़ती जाती है,

ज्ञान शक्ति का प्रकाश मन्द-मन्दतर होता चला जाता है। इसके विपरीत, जैसे-जैसे आवरण में हल्कापन होता जाता है, ज्ञान के विकास में वृद्धि होती जाती है।

आवरण की विनश्वरता

चन्द्रमा की नैसर्गिक ज्योत्स्ना को आवृत करने वाला मेघपटल, चंद्रमा का स्वभाव नहीं है— अपनी चीज नहीं है। वह औपाधिक है, आगन्तुक है, कारणजनित होने से वैभाविक है, अतएव विनश्वर है। इसी प्रकार आत्मा की ज्ञान-शक्ति को आवृत कर देने वाला आवरण-ज्ञानावरण-आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। विभाव है इसीलिये विनाशशील है। किस प्रकार उसका विनाश सम्भव होता है, यह एक अलग विषय है। जैन शास्त्रों में कर्मावरणों के विनाश की सम्पूर्ण तर्कसंगत प्रक्रिया प्रदर्शित की गई है जो प्रत्येक साधक के लिये अनिवार्य रूप से ज्ञातव्य है, किन्तु यहाँ तो हमें सिर्फ ज्ञान के सम्बन्ध में ही विचार करना है।

ज्ञान की विकृतियां

विशुद्ध बोध का स्वरूप सामने रख कर विचार करने पर हमें ज्ञान के विषय में दो प्रकार की विकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—प्रथम, ज्ञान की अपूर्णता और द्वितीय भ्रान्तता। इस द्विविध विकृति के कारण भी दो ही हैं— ज्ञानावरणीय कर्म और मोहनीय कर्म। ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान में अधूरापन उत्पन्न करता है। उसकी सघनता, सघनतरता और सघनतमता ज्ञान शक्ति में न्यूनता, न्यूनतरता और न्यूनतमता का कारण है। ज्ञानावरण का सामर्थ्य यहीं तक सीमित है। उसमें ज्ञान को मिथ्या, भ्रान्त या विपरीत बना देने की क्षमता नहीं है। ज्ञान का मिथ्यात्व, मोहनीय कर्म की देन है। दर्शन-मोहनीय कर्म ज्ञान को मिथ्या रूप में परिणत करता है।

ज्ञानावरण की सघनता जितनी मात्रा में न्यून होती है, उतनी ही मात्रा मे ज्ञान शक्ति का विकास होता है। मगर यह आवश्यक नही कि ज्ञानावरण की सघनता कम होने के साथ मोहनीय की सघनता भी कम हो ही जाये। कभी कभी ऐसा भी हो सकता है तथापि वहुत वार यह भी होता है कि ज्ञानावरण का विशिष्ट क्षयोपशम हो जाने पर भी मोह अपने प्रवल रूप में वना रहता है।

वैज्ञानिक को लीजिए। वह प्रकृति के अनेक रहस्यों को, जो साधारण बुद्धि से अगम्य प्रतीत होते है, खोल कर हमारे सामने रख देता है। उसने परमाणु शक्ति का आविष्कार किया है। टेलीवीजन का अन्वेषण किया है। शब्द और प्रकाश की गति को नापा है। गणित की उलझनो को सुलझा देने वाले यन्त्र का निर्माण किया है। और न जाने कितनी विस्मयवर्धक गवेषणाएं करके मानवीय ज्ञान के कोष की अभिवृद्धि की है।

दार्शनिक अपने ढग से पदार्थ-मीमांसा करता है। अपने अप्रतिहत और प्रखर बुद्धिवैभव से सूक्ष्म, व्यवहित और अन्तरित वस्तुओ का चित्र हमारे समक्ष उपस्थित कर देता है। सृष्टि के समस्त ज्ञेय उसकी वुद्धि की परिधि मे समा जाते है।

इस प्रकार अनेक वैज्ञानिक और दार्शनिक वौद्धिक विकास के उच्चतर शिखर पर अवस्थित होते है। किन्तु नही कहा जा सकता कि ज्ञान के आवरण के समान मोह के आवरण पर भी वे उतनी विजय प्राप्त कर सके है। सम्भव है, उच्चतम विद्वत्ता का धनी भी मोह की दृष्टि से निकृष्टतम स्थिति मे हो। जब ऐसा होता है तो ज्ञानावरण कर्म के क्षमोपशम से ज्ञान का जो उन्माद होता है, उसमें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से भ्रान्तता एव मिथ्यापन रहता है।

सामान्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की बात दूर रही, अतीन्द्रिय अवधि-ज्ञान भी मिथ्यात्व के कारण मलीन होता है। तत्त्वार्थ-सूत्र मे कहा गया है—

मति श्रुतावधयो विपर्ययश्च।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जब सम्यग्दर्शन के साथ होते है, तब सम्यग्ज्ञान रूप होते है और जब मिथ्यादर्शन के साथ होते है तो मिथ्याज्ञान बन जाते है।

दूध स्वभावत: मधुर होने पर भी कटुक तूम्बे के ससर्ग से जिस प्रकार कटुक हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान भी स्वभावत समीचीन होने पर भी मिथ्यात्व के ससर्ग से मिथ्या हो जाता है। जब वाह्या-भ्यन्तर निमित्त मिलने पर मिथ्यात्व का अन्त होता है और सम्यग्दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है, तब वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान के रूप मे परिणत हो जाता है।

सम्यग्ज्ञान की कसौटी

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का अन्तर समझने के लिए एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। दार्शनिक परम्परा मे और आध्यात्मिक परम्परा में सम्यग्ज्ञान का अर्थ एक-सा नही है। दार्शनिक परम्परा मे ज्ञान का सम्यक्त्व, ज्ञेय की यथार्थता पर आधारित है, अर्थात् जिस ज्ञान मे ज्ञेय पदार्थ अपने सही रूप में प्रतिभासित होता है, वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इससे विपरीत, ज्ञेय पदार्थ को अन्यथा रूप में जानने वाला ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। उदाहरणार्थ-सर्प को सर्प के रूप में जानने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) है और सर्प को रज्जु जानने वाला ज्ञान मिथ्याज्ञान (अप्रमाण) है। इस प्रकार प्रमेय की तथ्यता और अतथ्यता पर ज्ञान की प्रमाणता और

अप्रमाणता निर्भर है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ 'प्रमाणमीमासा' मे कहा है—'सम्यगर्थनिर्णय: प्रमाणम् ।' अर्थात् पदार्थ का सम्यक् निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। किन्तु अध्यात्मशास्त्र को सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की यह कसौटी स्वीकार नही है।

अध्यात्मशास्त्र का सम्यग्ज्ञान

अध्यात्मशास्त्र की मान्यता के अनुसार जो ज्ञान सम्यग्दर्शनसगत है वही सम्यग्ज्ञान है और जो मिथ्यादर्शनसंगत है, वह मिथ्याज्ञान है। तात्पर्य यह है कि जिस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है और इस कारण जिसकी दृष्टि शुद्ध हो चुकी है, जिसका प्रवल कषाय कालुष्य धुल गया है, जिसकी विचारधारा ने सही राह पकड ली है जिसमे कदाग्रह के लिए कोई स्थान नही है, उसका ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दृष्टि को भी कभी रज्जु मे सर्प का भ्रम हो सकता है, संशय भी हो सकता है, तथापि उसके भीतर सम्यग्दर्शन की जगती हुई दिव्य ज्योति के कारण उसका भ्रम एव सशय भी मिथ्याज्ञान नही कहा जा सकता। तद्विषयक दुरभिनिवेश का अभाव होने से वह ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान ही है।

इसके विपरीत, मिथ्यादृष्टि जीव की रुचि असद्गामिनी, बुद्धि दुराग्रहदूषित और श्रद्धा विपरीत होने के कारण, उसका सर्प को सर्प और रज्जु को रज्जु जानना भी मिथ्याज्ञान है।

दर्शन (व्यवहार) और अध्यात्म शास्त्र के इस व्याख्याभेद से किसी को गडवड मे पडने की आवश्यकता नही। सव के अपने-अपने मापदण्ड है और आवश्यक नही कि वे एक-से ही हो। इतिहास का वडे से वडा विद्वान् भी गणितशास्त्र की दृष्टि से अवोध हो सकता है।

वाल की खाल निकालने वाला वैयाकरण भी विज्ञान की दृष्टि से अनजान हो सकता है।

आप कह सकते है कि उपर्युक्त उदाहरणो मे विषयभेद के कारण एक ही व्यक्ति मे विज्ञता और अज्ञता हो सकती है किन्तु जव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि एक ही वस्तु को—रस्सी को—देखते है और सम्यग्दृष्टि उसे सर्प के रूप मे जानता है, फिर भी उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान और रस्सी को रस्सी समझने वाले मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्याज्ञान कहा जाता है। ऐसा क्यो ? इस भेद का आखिर क्या कारण है ?

इस सबंध में यद्यपि पहले सकेत किया जा चुका है, तथापि स्पष्टता के लिए पुन प्रकाश डालना उचित ही होगा। अध्यात्म-शास्त्रियो का मन्तव्य है :

सदसदविसेसणाओ,
भवहेऊ जहिच्छिओवलंभाओ।
नाणफलाभावाओ,
मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं।

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान क्यो अज्ञान कहलाता है, इसके लिए यहाँ चार कारण प्रदर्शित किये गये है :—

(१) पागल मनुष्य कभी अपनी माता को माता कहता है, कभी पत्नी कहता है, कभी कुछ और भी कह देता है। उसे वास्तविकता और अवास्तविकता का अन्तर ज्ञान नही है। ऐसी स्थिति मे जव वह माता को माता या पत्नी को पत्नी कहता है, तव उसका ज्ञान समझदार मनुष्य के ज्ञान के समान तथ्य ही प्रतीत होता है, फिर भी वह पागल सम्यग्ज्ञानी नही कहलाता। पागल का ज्ञान और शब्दप्रयोग

वास्तविकता से जनित नही, वरन् मन की तरग से जनित है । उसे यद्वा-तद्वा कुछ जानना है और अटसट कुछ बोलना है । उसने माता को माता जान लिया या कह दिया है, तब भी उसके पीछे आवश्यक समझदारी नही है । अतएव उसका यथार्थ जानना और कहना भी प्रमाणिक नही माना जाता । इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के अन्तर्लोक मे कषाय की तीव्रता के कारण सत्-असत् का विवेक नही होता और विवेक न होने के कारण उसका तथ्य ज्ञान भी पागल के ज्ञान के समान प्रमाणभूत–सम्यग्ज्ञान–नही कहा जा सकता ।

(२) सम्यग्ज्ञान आत्मा के अनादिकालीन भवबन्धनो को काट कर आत्मा को बन्धनमुक्त बनाता है । 'सा विद्या या विमुक्तये ।' जो ज्ञान आत्मा को बन्धनमुक्त नही कर सकता, वह ज्ञान नही, अज्ञान ही कहा जा सकता है । मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मुक्ति का हेतु न होकर जन्म-मरण की सन्तति की वृद्धि का हेतु होता है । अतएव वह मिथ्याज्ञान है ।

साधारणतया ज्ञान तीखी तलवार के समान है । तलवार मे आत्मरक्षण भी किया जा सकता है और आत्मवध भी । कुशल पुरुष उससे आत्मरक्षा करता है, मूर्ख आत्मवध कर लेता है ।

मिथ्यादृष्टि के लिए उत्तम से उत्तम शास्त्र भी शस्त्र बन जाते है । वह प्राप्त ज्ञान को आशय की दुष्टता के कारण अहित का हेतु बना लेता है

संसार में समय-समय पर जो कुपन्थ प्रचलित हुए, उनके पुरस्कर्त्ता कौन थे ? भोले - भाले ज्ञानविहीन लोगो के चलाये कोई पन्थ नही चला, और न चल ही सकता है । उन पथो के पुरस्कर्त्ता ऐसे ही लोग थे जिनमे ज्ञान तो ठीक - ठीक मात्रा में था, किन्तु वह मिथ्यात्व से

दूषित था। आज भी भयानक से भयानक अस्त्रशस्त्रो का निर्माण कौन कर रहे है ? उदजनवम और परमाणुवम सरीखे सर्वग्रासी दैत्यो को जन्म देने वाले कौन है ? ज्ञानविहीन किसी गँवार की देन वह नही है। जिन्हे दुनिया 'विज्ञानवेत्ता' कहती है, उनके ज्ञान ने ही जगत् को यह वरिष्ठ वरदान दिया है।

अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्य की दृष्टि मे निर्मलता नही आ जाती, उसकी प्रज्ञा सन्मार्ग को नही समझ लेती और उसमे आत्मोन्मुखता उत्पन्न नही हो जाती, तब तक उसके ज्ञान से न उसी का हित हो सकता है और न दूसरो का। ऐसी अवस्था में जो ज्ञान होता है, वह बन्धनवर्द्धक ही होता है, अतएव तात्त्विक दृष्टि से वह अज्ञान है।

(३) मिथ्यादृष्टि का ज्ञान यदृच्छा पर अवलम्बित होता है। जैसा मन को भाया वैसा समझ लिया और जैसा समझ लिया, उसी की गाठ बाँध ली। उसका अभिनिवेश ऐसा उग्र होता है कि लाख समझाने पर भी वह अपनी मिथ्या मान्यता से नही डिगता। सम्यग्दृष्टि अपनी भूल को समझता है तो उसे स्वीकार करने मे तनिक भी नही हिचकता, परन्तु मिथ्यादृष्टि अपनी भूल पर पर्दा डालने के लिये सौ नई भूले करता है। ऐसी स्थिति में उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान कैसे कहा जा सकता है ?

(४) मिथ्यादृष्टि ज्ञान के वास्तविक फल से वचित रहता है, इस कारण भी उसका ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

'ज्ञानस्य फल विरतिः।' ज्ञान का फल है पापमय व्यापारो से विमुख होना, अश्रेयस्कर कार्यों से निवृत्त होकर श्रेयस्कर कार्यों में प्रवृत्त होने में ही ज्ञान की सफलता है। जिस ज्ञान के उत्पन्न हो जाने

पर भी यह फल प्राप्त नही होता, वह वस्तुतः ज्ञान ही नही कहा जा सकता।

तज्ज्ञानमेव न भवति,
यस्मिन्नुदिते विभाति रागगण.,
तमस. कुतोऽस्ति शक्ति.,
दिनकर किरणाग्रतः स्थातुम् ? ॥

जव दिवाकर की प्रखर आलोकमयी किरणे लोक को आलोकित करती है, तव अन्धकार ठहर नही सकता। जिसकी विद्यमानता में भी अन्धकार विद्यमान रहता हो, उसे आलोक ही नही कहा जा सकता। ज्ञान आत्मिक आलोक है और राग-द्वेषादि कषाय आत्मिक अधकार है। ज्ञानालोक का उदय होने पर कपायान्धकार ठहर नही सकता। जिस आत्मा में प्रवल कपायान्धकार मौजूद है, समझना चाहिए कि उसमे ज्ञान का उदय ही नही हुआ है।

कार्य-कारण का अविनाभाव प्रसिद्ध है और वह दुतरफा होता है; अर्थात् कार्य, कारण मे ही उत्पन्न होता है और कारण, कार्य को उत्पन्न करता ही है। इस नियम के अनुमार जो कारण, कार्य का जनक नही, वह वस्तुतः कारण ही नही है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान यदि वास्तविक ज्ञान होता तो वह नियमतः विरति रूप कार्य को उत्पन्न करता। किन्तु वह विरति उत्पन्न नही करता, अतएव उसे ज्ञान कहना अनुचित है।

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन का सहभावी ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्दर्शन से परिपूत ज्ञान आत्मा मे हेय-उपादेय का विवेक जागृत करता है, आत्मा की कलमप - कालिमा को दूर करता है और आत्मा को ज्योतिर्मय बना देता है।

ज्ञान की तरंगें

विविधता का कारण

जल अपने आप में एकरूप होने पर भी विविध उपाधियो के सम्पर्क से नाना रूप प्रतीत होता है। जब आसमान से बरसता है तो उसमें किसी प्रकार की भिन्नता नही होती। तदनन्तर वह नदी में पहुँच कर नदी का जल कहलाता है, सरोवर मे पहुच कर सरोवर का, कूप मे जाकर कूप का और सागर मे मिलकर सागर का कहलाने लगता है। यही नहीं, विभिन्न प्रकार की पृथ्वी के ससर्ग से उसकी प्रकृति मे भी अन्तर पड जाता है। एक जल हल्का और दूसरा भारी होता है। एक खारा, दूसरा मीठा हो जाता है। इस प्रकार मूल मे एक प्रकार का जल होने पर भी सयोग से नाना नाम और नाना रूप धारण कर लेता है।

जीव के चेतनागुण की भी यही स्थिति है। मूल में—समस्त जीव एक-सी चेतना के धनी है, किन्तु अनेक प्रकार की उपाधियाँ उसमें विभिन्नता उत्पन्न कर देती है।

उन सब उपाधियो को साधारणत' दो भागो में विभक्त किया जा सकता है—विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ और कारण अर्थात् ज्ञान-जनक साधन। इन्ही दो उपाधियो के कारण एक चेतनागुण अनेक, असख्य और अनन्त रूप धारण कर लेता है।

जगत् के समस्त पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है; अर्थात् सामान्य अंश और विशेष अश का समन्वय ही वस्तु है। चेतना के द्वारा जब सामान्य अश ग्राह्य होता है तब चेतना 'दर्शन' कहलाती है और जब वही चेतना वस्तु के विशेष अश को ग्रहण करती है तो उसे 'ज्ञान' सज्ञा प्राप्त होती है। इस प्रकार विषयभेद से चेतना दर्शनचेतना या दर्शनोपयोग और ज्ञानचेतना या ज्ञानोपयोग के नाम से द्विविध बन जाती है।

चक्षु रूप साधन के द्वारा व्यापृत होने वाली दर्शन चेतना चक्षुदर्शन और चक्षुभिन्न इन्द्रियो द्वारा व्यक्त होने वाली अचक्षुदर्शन कहलाती है। जिस दर्शन चेतना मे इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रहती और जो रूपी पदार्थों के सामान्य अश को ही ग्रहण करती है, वह अवधिदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। समस्त रूपी अरूपी पदार्थों के सामान्य अश को विषय बनाने वाली चेतना केवल दर्शन कहलाती है। इस प्रकार विषय एव साधन की विभिन्नता के कारण दर्शनोपयोग के चार भेद है।

ज्ञान के विभाग.

ज्ञानोपयोग के जो नाना भेद-प्रभेद शास्त्रो में वर्णित है, उनका आधार भी विषय और कारण की भिन्नता ही है। इन आधारो पर ज्ञान के मुख्य पाँच विभाग किये गये है[1] (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मन.पर्यायज्ञान और (५) केवलज्ञान।

---

[1]क–तत्थ पचविह नाण, सुय आभिनिबोहियं,
ओहिनाण तु तइय, मणनाण च केवलं ॥ उत्त. अ. २८, गा. ४

ख–पचविहेनाणे पण्णते। त जहा–अभिणिबोहियनाणे, सुयनाणे, ओहिनाणे, मणपज्जवणाणे, केवलनाणे।

— राजप्रश्नीय - १६५

(१) मतिज्ञान—इसका दूसरा नाम आभिनिवोधिक ज्ञान है। इन्द्रियो और मन के अवलम्बन से मूर्त्त और अमूर्त्त पदार्थों को आशिक रूप से जानने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है।

(२) श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर मन के अवलम्बन से, शब्दार्थ के वाच्य - वाचकभाव सवन्ध के आधार पर होने वाला ज्ञान।

(३) अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के विना ही, सीधा आत्मा से होने वाला तथा रूपी पदार्थों को, मर्यादित रूप से जानने वाला ज्ञान।

(४) मनःपर्यायज्ञान—इन्द्रिय-मन की सहायता के विना, मन की पर्यायो को साक्षात् रूप से जानने वाला एकदेश प्रत्यक्ष ज्ञान।

(५) केवलज्ञान—त्रिकाल और त्रिलोकवर्त्ती समस्त द्रव्यो, गुणो और पर्यायो को युगपत् विषय करने वाला सर्वोत्कृष्ट ज्ञान; जिसके होने पर आत्मा सर्वज्ञ पद का अधिकारी हो जाता है।

क्रममीमांसा :

मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि पाँच भेदो का जिस क्रम से यहाँ उल्लेख किया गया है, वही क्रम जैन आगमो मे सर्वत्र प्रचलित है। सभी जैन सम्प्रदाय और सभी जैनाचार्य निर्विवाद रूप से इसी क्रम को स्वीकार करते हैं। इस क्रम की स्थापना मे एक विशिष्ट अर्थ निहित है। यहाँ संक्षेप मे उसकी चर्चा कर लेना उपयोगी, वोधप्रद और साथ ही मनोरजक भी होगा।

पाँच ज्ञानो में से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्येक संसारी जीव को अवश्य प्राप्त रहते है। यह बात अलग है कि किसी आत्मा मे वह

अत्यल्प मात्रा मे हो और किसी मे अपनी मर्यादा के अनुसार सर्वोत्कृष्ट मात्रा मे, किन्तु ऐसा कोई ससारी जीव नही, जिसमें इनका सद्भाव न हो। अविकास की चरम सीमा को प्राप्त एकेन्द्रिय जीवो मे भी इनकी सत्ता है।

इसके अतिरिक्त इन दोनो ज्ञानो की विद्यमानता में ही शेष ज्ञान उत्पन्न हो सकते है। अतएव इनकी गणना सर्वप्रथम की गई है।

मति-श्रुत में समानता :

मतिज्ञान के अनन्तर ही श्रुतज्ञान की गणना करने का कारण इन दोनो में निम्नलिखित बातो की समानता है :—

स्वामी की समानता—जो मतिज्ञान का स्वामी है, वह श्रुतज्ञान का भी स्वामी है और जो श्रुतज्ञान का स्वामी है, वह मतिज्ञान का भी स्वामी होता है। ऐसा कोई जीव नही जिसमे एक ज्ञान हो पर दूसरा न हो।

काल की समानता—काल का विचार दो प्रकार से किया जाता है—एक जीव की अपेक्षा और दूसरा सर्व जीवो की अपेक्षा। दोनो ही दृष्टियो से दोनो ज्ञानो का काल समान है। एक जीव की अपेक्षा छयासठ सागरोपम तक ये रहते है और सर्व जीवो की अपेक्षा सदैव रहते है।

कारण की समानता—मतिज्ञान का अन्तरग कारण ज्ञानावरण का क्षयोपशम और वहिरग कारण इन्द्रिय-मन है, श्रुतज्ञान भी इन्ही कारणो से उत्पन्न होता है।

विषय की समानता—जैसे मतिज्ञान सर्व द्रव्यो को किन्तु असर्व पर्यायो को जानता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी।

परोक्षत्व की समानता—आत्मा को होने वाला ज्ञान यदि इन्द्रिय या मन के द्वारा होता है तो वह परोक्ष कहलाता है और इन्द्रिय-मन से न होकर सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। उक्त दोनो ज्ञान इन्द्रिय-मनोजनित होने के कारण परोक्ष है।

पौर्वापर्य :

इन समानताओ के कारण मति-श्रुतज्ञान का साथ-साथ और प्रारभ में होना तो सुसगत हो जाता है, फिर भी एक प्रश्न अभी शेप है। वह यह कि इन दोनो मे भी मतिज्ञान का प्रथम और श्रुतज्ञान का द्वितीय स्थान क्यो है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है, अतएव उसी को प्रथम स्थान प्राप्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त श्रुतज्ञान वस्तुतः मति का ही एक विशिष्ट भेद है।

मतिश्रुत व अवधिज्ञान में समानता :

इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का क्रम व्यवस्थित हो जाने के पश्चात् अवधिज्ञान का विचार प्राप्त होता है। इनके पश्चात् अवधिज्ञान को जो स्थान दिया गया है, उसका कारण उक्त दोनो ज्ञानो के साथ अवधिज्ञान की निम्न लिखित समानताएँ है :—

(१) कालिक समानता—मति-श्रुतज्ञान का जो काल एक और अनेक जीवो की अपेक्षा बतलाया गया है, वही अवधिज्ञान का काल है।

(२) विपर्यास की समानता—मिथ्यात्व का उदय होने पर जैसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मति अज्ञान और श्रुत-अज्ञान के रूप मे विपरीत ज्ञान हो जाते है, उसी प्रकार अवधिज्ञान भी कुअवधिज्ञान (विभगज्ञान) के रूप मे परिणत होता है।

(३) स्वामीसमानता—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का स्वामी ही अवधिज्ञान का स्वामी होता है, यह स्वामित्व की दृष्टि से समानता है।

(४) लाभसमानता—जब किसी विभगज्ञानी मनुष्य या देव आदि को सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है तो उसके तीनो अज्ञान मिट कर एक ही साथ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान बनते है। इस प्रकार तीनो ज्ञानो मे लाभ अर्थात् उत्पत्ति की भी समानता है।

अवधि और मन:पर्याय में समानता ·

अवधिज्ञान के पश्चात् मन:पर्याय ज्ञान को स्थान देने का कारण दोनो मे पाई जाने वाली निम्नलिखित समानताएँ है ·—

(१) छद्मस्थसमानता—जैसे अवधिज्ञान छद्मस्थ जीव को होता है, उसी प्रकार मन.पर्यायज्ञान भी छद्मस्थ को ही होता है।

(२) विषयसमानता अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है वैसे मन पर्याय ज्ञान का विषय भी रूपी ही है।

(३) भावसमानता—जैसे अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव के अन्तर्गत है, अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मन पर्याय ज्ञान भी क्षयोपशमजन्य है।

इन तीन बातो की समानता के कारण अवधिज्ञान के बाद मन.पर्यायज्ञान की गणना की गई है।

मन.पर्याय और केवल में समानता

मन.पर्याय के पश्चात् केवलज्ञान की गणना करने का प्रयोजन यह है कि जैसे मन.पर्यायज्ञान अप्रमत्त सयमी को होता है, उसी प्रकार

केवलज्ञान भी अप्रमत्त सयमी को ही प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त सब से अन्त में प्राप्त होने के कारण तथा सर्वोत्कृष्ट होने से भी उसे अन्त में स्थान देना योग्य है।

अनेक बातें

पाँचो ज्ञानो के क्रम का विचार करने से उनके सम्बन्ध में अन्य अनेक बाते भी विदित हो जाती है। यथा—मति और श्रुत, यह दो ज्ञान परोक्ष और शेष तीन प्रत्यक्ष है। मति, श्रुत, अवधिज्ञान, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, दोनो को प्राप्त हो सकते है। जब वे मिथ्यादृष्टि को होते है तो अज्ञान (कुज्ञान–मिथ्याज्ञान) कहलाते है और जब सम्यग्दृष्टि को होते है तो सम्यग्ज्ञान कहलाते है। मन.पर्याय और केवलज्ञान को मिथ्यादृष्टि प्राप्त नही कर सकता, अतएव उनमें विपर्यास के लिए अवकाश नही है। प्रारभ के चार ज्ञान क्षायोपशमिक और केवलज्ञान क्षायिक है। अवधिज्ञान और मन.पर्यायज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी सिर्फ रूपी वस्तुओ को ही जानने मे समर्थ होते है, अतएव देशप्रत्यक्ष है; जब कि केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। जगत् का कोई भी ज्ञेय उसका विषय मर्यादा से बाहर नही है।

ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः

साधन से सिद्धि

जिस विवेकवान् पुरुष ने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को परिज्ञात कर लिया है, जो आत्मा की अनादि-अनन्त सत्ता को असदिग्ध रूप मे पहचान चुका है और जिसे यह प्रतीति हो चुकी है कि ज्ञान और आनन्द की सत्ता आत्मा मे ही है और अन्यत्र कही नहीं हैं, उसका एक मात्र लक्ष्य आत्मस्वरूपोपलब्धि ही हो सकता है। आत्मा के समस्त बन्धनो को काटना और आवरणो को दूर करना शुद्ध आत्मोपलब्धि है। यही सिद्धि और मुक्ति है।

कोई भी सिद्धि साधनो की समग्रता के बिना उपलब्ध नही की जा सकती। विविध प्रकार की लौकिक सिद्धियाँ भी, जिनका महत्त्व क्षणिक होता है और जो अपने आपमे क्षुद्र एव सारहीन है, साधनो का सकलता के विना प्राप्त नही की जा सकती, ऐसी स्थिति मे जीवन की चरम और परम सिद्धिमुक्ति के लिए साधनसमग्रता अनिवार्य रूप से अपेक्षित हो, यह स्वाभाविक ही है।

यहाँ हमे विचार करना है कि क्या ज्ञान मुक्ति का अविकल साधन है ?

आहसु विज्जा चरण पमोक्ख—सूत्र, १-१२-११

—ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष है।

इस प्रश्न के समाधान के लिए किसी भी लौकिक सफलता पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। एक मनुष्य रोगग्रस्त है और उसे उस रोग का निवारण करने वाली अमोघ औषधि का भलीभाँति परिज्ञान है। क्या सम्भव है कि औषधि के ज्ञानमात्र से उसका रोग दूर हो जाए ? नही।

जिसकी उदर-कन्दरा रिक्त है—जो तेज भूख से व्याकुल हो रहा है, वह षट्रस भोजन के परिज्ञान से ही तृप्ति के आनन्द का भागी हो सकता है ? नही।

ज्ञान एक प्रकाश है

ज्ञान एक विशिष्ट प्रकार का प्रकाश है। उसकी सहायता से हम अपने जीवन के लक्ष्य को स्थिर कर सकते है, लक्ष्य की प्राप्ति के साधनो को समझ सकते हैं और लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग में आने वाले विघ्नो को तथा उनके निराकरण के उपायो को जान सकते है। और इन सब चीज़ो को समीचीन रूप से जान लेना और निश्चित कर लेना अति महत्त्व की बात है, इन्हे जाने बिना लक्ष्य की सिद्धि संभव नही है। नेत्र मूद कर, अन्धकार में चलने वाला मनुष्य अपनी मज़िल तक नही पहुँच सकता। वह ठोकर खाता है, टकराता है गिरता है और अपनी शक्ति का निष्फल व्यय करता है। कभी-कभा तो उसका चलना उसे मंज़िल से और भी दूर ले जाता है।

ज्ञान का महत्त्व

इस प्रकार ज्ञान-प्रकाश की जो महत्ता है, उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। शुद्ध ज्ञान के अभाव में आत्मा चौरासी के चक्कर में पडा भटक रहा है। अनादि काल से सुख प्राप्त करने के लिए आकाश-पाताल एक कर रहा है। वह अनन्त-अनन्त भवो में दुष्कर

अनुष्ठान कर चुका है। काया को काँटे की तरह कृश कर चुका है, तपस्या की तीव्रतर अग्नि मे अपने आपको होम चुका है, कितनी ही वार जलसमाधि और अग्निसमाधि ले चुका है, व अनशन के भाड़ मे अपने आपको झौक चुका है, सासारिक सुखो को जलाञ्जलि देकर, वनवास अगीकार करके, वृक्ष से गिरे पके या सूखे पत्तो पर, कन्दमूल पर या हवा पर निर्भर रहकर प्राणो का उत्सर्ग कर चुका है। परन्तु समीचीन ज्ञान के अभाव मे इसका निस्तार नही हो सका।

ज्ञानाभाव में क्रिया-काय क्लेष है

आपने देखे होगे शायद ऐसे तरुण तापस जो भीष्म ग्रीष्मकाल मे, जब दिवाकर की प्रचण्ड आग्नेय रश्मियाँ आसमान से उतर कर धरातल पर हमला करती है और सृष्टि को आतपमय वना देती हैं, तव अतितप्त वालुका पर प्रावरण विहीन होकर आतापना लेते है! घोर शिशिर मे, जव जल भी जम कर बर्फ वन जाता है, हाथ-पैर जड़ हो जाते है, खून ठडा पड जाता है और शीतल वायु कलेजे को कृपाण की तरह काटती है, तव जलाशय के तट पर समाधि में मग्न निश्चल खडे रहते है। वर्षा के मौसम मे मेघो की सघन घटा ने आकाश को काले चादर की तरह आच्छादित कर रक्खा है, क्षण भर भी विश्राम लिये विना मूसलधार वर्षा हो रही है। मगर तपस्वीजी खुले आकाश मे ध्यान धरे खडे है!

किन्तु हन्त! उनका यह घोर कायक्लेश ज्ञान के अभाव मे ज्योति की एक छोटी-सी चिनगारी भी प्रज्वलित नही कर सका! इससे उनकी आत्मा का लेश मात्र भी विकास न हो सका। उन्हे कष्ट सहिष्णुता के फलस्वरूप जागतिक वैभव—स्वर्ग का सुख मिल भी गया तो उससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ! सिद्धि के पथ पर तो वे एक डग भी आगे न वढ सके! ज्ञान की ज्वाला में उनका कल्मष दग्ध न

हो सका। स्वर्ग का काल समाप्त होने पर वे पुन: ज्यो के त्यो कीट—पतंग आदि की निकृष्ट योनियो में आ पडे ! किसी]ने यथार्थ ही कहा है—

मोहान्धकारे भ्रमतीह तावत्,
संसार दु:खैश्च कदर्थ्यमान. ।
यावद्विवेकार्क महोदयेन,
यथास्थितं पश्यति नात्मरूपम् ।

जव तक आत्मा रूपी आकाश में विवेक—सविता का महान् उदय नही होता और उसके प्रकाश में जीव आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान नही लेता, तव तक जन्म-जरा-मरण की व्यथाओ से व्यथित होता हुआ मोह - अन्धकार में भटकता ही रहता है। उसकी पीडाओ का अन्त नही होता।

ज्ञान क्रिया का समन्वय

इस प्रकार साधना के क्षेत्र में सम्यग्ज्ञान का महत्त्व वचनागोचर है। तथापि इस लक्ष्य को स्वीकार किये विना चारा नही कि उसकी एक मर्यादा है। प्रकाश पथप्रदर्शन कर सकता है, आपको गडहे, ठूठ और ठोकर से वचने के लिए सतर्क कर सकता है, मगर चला नही सकता। ज्ञान साधना के सन्मार्ग की ओर इंगित कर सकता है और उस सम्वन्ध की सही-सही जानकारी दे सकता है, मगर गति करना उसका दायित्व नही है। वह लक्ष्य तक पहुँचा नही सकता। लक्ष्य पर पहुँचने के लिए ज्ञान के प्रकाश मे क्रिया करनी होगी—चलना होगा।

तो जैसे ज्ञान के अभाव में क्रिया अर्थशून्य है, उसी प्रकार क्रिया के अभाव मे ज्ञान भी निष्फल है। साधना की सफलता के लिए दोनो का यथोचित समन्वय अनिवार्य है। 'न ह्येकचक्रेण रथ: प्रयाति'—रथ चलेगा तो दोनो पहियो से चलेगा, एक से नही।

हम जानते है उन दार्शनिको को जो दावा करते है कि हमारे द्वारा उपदिष्ट तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। उनका वचन है—

जटी मुण्डी शिखी वापि,
यत्र कुत्राश्रमे रत ।
पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो-
मुच्यते नात्र संशयः ।

जटाधारी हो, शिर मुंडाये हो या मस्तक पर ध्वजा की तरह लम्बी चोटी फहरा रही हो, किसी भी आश्रम मे रत हो—गृहस्थ हो या त्यागी हो, विवाहित हो या अविवाहित हो, जिसने प्रकृति और पुरुष आदि पच्चीस तत्त्वो को पहचान लिया, वह मुक्ति के साम्राज्य का अधिपति हो गया ! इस सचाई मे ननु न च के लिए कोई गुंजाइश नही है ।

समन्वय से मुक्ति

इसी प्रकार का मन्तव्य प्रदर्शित करने वाले कतिपय दार्शनिक और भी है वे अपने तत्त्वो के ज्ञान को मोक्ष का कारण बतलाते है। परन्तु निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह आश्वासन मिथ्या है। जब तक ज्ञान के साथ क्रिया का सगम नही होता, तब तक मुक्ति के जन्म की कोई सभावना नही की जा सकती। इसी कारण जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने कहा—

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥

विशे. भाष्य गा ११५९

अंधा और पंगु

जनहीन वन मे, विधिवशात एक अंधा और एक पगु मनुष्य पहुँच गया। अकस्मात् वन मे दावानल सुलग उठा। प्रचड आधी के सहयोग से थोडी ही देर मे चारो ओर यमराज की लपलपाती जिह्वा के समान आग की ज्वालाएँ अपना जौहर दिखलाने लगी। ऐसे संकट के समय अंधे और पंगु दोनो को प्राणरक्षा की चिन्ता हुई। दावानल से त्राण पाने के लिए अन्धा दौड सकता था और वह दौडा भी। किन्तु नेत्रहीन होने के कारण वह उसी दिशा मे दौड़ा जिस दिशा मे अग्निज्वालाएँ भीषण नर्तन कर रही थी। वह ज्वालाओ को आलिगन करके उन्ही मे समा गया।

पगु देख रहा था मगर चल नही सकता था। गतिसामर्थ्य के अभाव मे वह देखते-देखते आग का भक्ष्य बन गया। इस प्रकार परस्पर निरपेक्ष रह कर दोनो ने अपने प्राण गँवा दिये। यहाँ अन्धा क्रिया का प्रतीक है और पगु ज्ञान का। ज्ञाननिरपेक्ष क्रिया और क्रियानिरपेक्ष ज्ञान की यही स्थिति है। वे कार्यसाधक नही होते।

अगर दोनो मे सहयोग होता तो दोनो की प्राणरक्षा हो सकती थी दोनो उस भयानक दावानल से बच सकते थे। अन्धे के कन्धे पर बैठ कर पगु पथप्रदर्शन करता और पगु उसे ज्वालाओ से रहित मार्ग से ले जाता तो दोनो सकुशल सुरक्षित स्थान पर पहुँच सकते थे।

ज्ञानी जन संसार को भीषण अटवी मानते है। यहाँ जन्म, मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि से उत्पन्न होने वाले दुखो का दावानल सुलग रहा है। प्राणीमात्र इस दावानल से बचने के लिए एव सुरक्षित स्थान-मोक्ष-मे पहुँच ने के लिए छटपटा रहे है। कोई ज्ञान के बल पर और कोई क्रिया के बल पर इस दावानल से बचने का प्रयास करते है, किन्तु उन्हे सफलता नही मिलती। अज्ञानी मोक्ष

के लिए क्रिया करता है, परन्तु उसकी क्रिया बन्ध का कारण बन जाती है। ज्ञानी छुटकारे का उपाय जानता है, परन्तु कोई उद्योग नही करता। ऐसी स्थिति मे दोनो का त्राण नही है। त्राण हो सकता है उनका जो अपने जीवन मे ज्ञान और सदाचार का, आचार और विचार का, ज्ञान और कृति का समन्वय करके चलते है। वही भवाटवी के सताप-दाह से छुटकारा पा सकते है और मोक्ष प्राप्त कर सकते है। कहा है—

> संजोग सिद्धीय फल वयति,
> न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
> अधो य पगू य वणे समेच्चा,
> ते सपउत्ता नगर पविट्ठा ॥

रथ की गति दोनो चक्रो के सहारे होती है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया का सयोग होने पर ही मोक्ष-फल की प्राप्ति हो सकती है। अन्धा और पगु दोनो मिल कर हा नगर मे सकुशल पहुँच सकते है। अकेले-अकेले नही।

स्पष्ट है कि ज्ञान, क्रिया का और क्रिया, ज्ञान का पूरक है। दोनो अपने आपमे विकल है और मिल कर ही कार्यसाधक होते है। अतएव मुमुक्षु जनो को ज्ञान और चारित्र- दोनो की आराधना समान भाव से करना चाहिए। यही मोक्ष का राजमार्ग है और इस प्रकार के समन्वय मे ही साधना की सफलता है। जिनके जीवन मे ज्ञान-क्रिया का समुचित समन्वय हो सका, वे कृतार्थ हुए, धन्य हुए, और सदा के लिए समस्त दुखो और सतापो से मुक्त बन गये।

प्रकाश किरणें

मति ज्ञान:

जीव का उपयोग जब प्रवृत्त होता है और किसी वस्तु की ओर उन्मुख होता है तो सर्वप्रथम उसके सामान्य अंश - सत्ता - को ही ग्रहण करता है। तब वह दर्शन कहलाता है। तदनन्तर क्रमशः अग्रसर होता जाता है और सत्ता-सामान्य से आगे बढ कर अवान्तर सामान्य को ग्रहण करता है। तब उसे अवग्रह[1] कहते है। सामान्य को ग्रहण करने के पश्चात् वही उपयोग वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करने के लिए अभिमुख होता है, उस समय की उपयोग की अवस्था ईहा[2] कहलाती है। तत्पश्चात् जब विशेष अंश का निश्चय कर लेता है, तब उसे अवाय[3] संज्ञा प्राप्त होती है। अवाय की स्थिति मे पहुँचने पर पदार्थ का निश्चय हो जाता है। अवाय के पश्चात् जो दृढतर ज्ञान

---

[1] 'अक्षार्थ योगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः"

—प्रमाण मीमासा १।१।२६

[2] अवगृहीतार्थ विशेषकाक्षणमीहा"

प्रमाण नय तत्त्वालोक–२।८

ईहित विशेष निर्णयोऽवायः"

प्रमाण मीमांसा–१।१।२८

होता है वह धारणा[1] कहलाता है और उसके भी तीन रूप है।[2] (१) जब तक अवाय ज्ञान लगातार चालू रहता है, अविच्युति (उपयोग का च्युत न होना) कहलाता है। (२) उपयोग के च्युत हो जाने अर्थात् पलट जाने पर भी उसका सस्कार अन्तर मे बना रहता है, वह संस्कार वासना कहलाता है। (३) कालान्तर मे अनुकूल निमित्त मिलने पर वह दबा हुआ सस्कार उभर आता है—जागृत हो जाता है, उसे स्मृति कहते है।

मतिज्ञान के ये चार भेद कहलाते है। भेद और कुछ नही, उपयोग के क्रमिक विकास की विशिष्ट अवस्थाएँ मात्र हैं। अवस्थाओ के वर्गीकरण को ही भेदो के रूप मे अभिहित किया गया है। इन भेदो पर ध्यान देने से समझ मे आ सकता है कि प्रारम्भ में हमारा उपयोग कितना अक्षम या दुर्बल होता है और फिर किस क्रम से वह अधिकाधिक बारीकी की ओर बढता जाता है।

वस्तु चाहे अपरिचित हो या परिचित हो, अथवा अतिपरिचित हो, ज्ञान इसी नियत क्रम से होता है। जिस वस्तु को हम प्रतिदिन देखते हैं, और जो अत्यन्त अभ्यस्त है, उस पर दृष्टि पडते ही ऐसा लगता है कि एकदम सीधा अवाय (निश्चयात्मक) ज्ञान हो गया है, तथापि ऐसा होता नही। उसमे भी प्रथम दर्शन, फिर अवग्रह ईहा और फिर अवाय होता है। अभ्यास की दशा मे उपयोग इतनी शीघ्रता के साथ उत्तरोत्तर अग्रसर होता है कि हम उसके क्रम को परिलक्षित नही कर सकते। अत्यन्त जीर्ण वस्त्र को एक सिरे से दूसरे सिरे तक,

---

[1] स्मृतिहेतु धारणा

प्रमाण मीमासा—१।१।२९

[2] (क) देखिए जैन तर्क भाषा - उपा. यशोविजय.

(ख) विशेपावश्यक भाष्य।

कोई तरुण बलवान् पूरी शक्ति के साथ फाडता है तो देखने वाले को सहसा ऐसा प्रतीत होता है मानो वह एक ही साथ फट गया हो। मगर वास्तव मे कपडे का एक-एक तन्तु और तन्तुगत एक-एक रेशा क्रम से ही फटता है। शीघ्रता के कारण जैसे क्रम का खयाल नही आता, उसी प्रकार ज्ञान मे उक्त क्रम का भी हमे पता नही चलता।

विषयादि के भेद से मतिज्ञान के अट्ठाईस, तीन सौ छत्तीस और तीन सौ चालीस भेद भी प्रसिद्ध हैं, जो अन्यत्र देखे जा सकते हैं।

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान में शेष चार ज्ञानो की अपेक्षा एक विशेषता है। चार ज्ञान मूक हैं, जब कि श्रुतज्ञान अमूक (मुखर) है। चार ज्ञानो से वस्तुस्वरूप का प्रतिभास हो सकता है, परन्तु प्रतिपादन नही हो सकता, जब कि शब्दात्मक होने से श्रुतज्ञान प्रतिपादक भी है।

श्रुत का ज्ञानात्मक रूप भावश्रुत कहलाता है और शब्दात्मक रूप द्रव्यश्रुत कहलाता है।[1]

श्रुतज्ञान के अपेक्षाभेद से दो विभाग है—अगप्रविष्ट और अंगबाह्य[2]। आचार आदि द्वादशविध अगसूत्र अगप्रविष्ट मे सम्मिलित हैं और शेष तदनुसारी श्रुत अगबाह्य मे।

श्रुतज्ञान के चौदह[3] और बीस भेद भी प्रसिद्ध हैं। उनका विस्तार भय से यहाँ विवेचन नही किया गया है। श्रुतज्ञान का पूर्ण रूप से वर्णन होना सभव भी नही है। जिस ज्ञान को परिपूर्ण रूप मे प्राप्त

---

[1]स्थानाङ्ग सूत्र, स्था. २

[2](क) नन्दी सूत्र. (४४)

(ख) स्थानाङ्ग, २ उद्देशा–१ सू ७१

(ग) विशेषावश्यक भाष्य व तत्त्वार्थ-सूत्र

[3]नन्दी सूत्र.

करके छद्मस्थ जीव केवली की कोटि मे जा पहुँचता है और 'श्रुतकेवली' कहलाता है और सर्वज्ञ के समान समस्त भावो का ज्ञाता वन जाता है, उस ज्ञान का पूर्ण वर्णन करना किस प्रकार सभव हो सकता है ?

अवधिज्ञान

अवधिज्ञान चारो गतियो के जीवो को हो सकता है । देवो और नारको को तो होता ही है, [1]तपश्चरण जनित विशिष्ट क्षयोपशम वाले मनुष्यो को और किसी-किसी तिर्यञ्च को भी हो सकता है ।

तरतमता आदि के आधार पर अवधिज्ञान के अनेक भेद-प्रभेद है । न्यूनतम हो तो लोकाकाश के अगुल के असख्यातवें भाग मे स्थित रूपी पदार्थों को जानता है और अधिकतम हो तो समग्र लोक मे स्थित समस्त रूपी पदार्थों को जान सकता है[2] । यही नही, अलोक मे लोक के वरावर असंख्य खण्ड यदि और होते तो उन्हे भी वह जान सकता था, इतनी शक्ति उत्कृष्ट अवधिज्ञान मे होती है ।

कहा जा सकता है कि रूपी पदार्थों को तो हम इन्द्रियो के द्वारा जानते ही हैं, फिर अवधिज्ञान की विशेषता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है ।

आप नेत्रो से रूपी पदार्थों को देखते है । किन्तु चश्मे का उपयोग करने पर कतिपय ऐसे पदार्थों को भी देखने लगते है, जिन्हे पहले

[1](क) स्थानाङ्ग सूत्र, ७१
नन्दीसूत्र - ७–८,
तत्त्वार्थ सूत्र १. २२–२३

[2]"रूपिष्ववधेः"—तत्त्वार्थ, १, २८

नही देख पाते थे। तत्पश्चात् यदि आप दूरवीक्षण यंत्र से देखें तो बहुत से ऐसे सूक्ष्म रजकण भी आपको दीखेंगे जो चश्मे से भी दृष्टि-गोचर नही हो रहे थे। अधिक शक्तिशाली यंत्र का उपयोग करने पर और अधिक सूक्ष्म पदार्थ नजर आने लगेंगे। उन्हे देखकर आप पुलकित और चकित हो उठेंगे और तब आपको ज्ञान होगा कि इस सृष्टि में दृश्य भाग की अपेक्षा अदृश्य भाग कितना अधिक है!

यह सब तो आपने स्थूल भौतिक उपकरणो से देखा है, इस कारण स्थूल पदार्थ ही आपकी दृष्टि मे आए हैं. जिन्हे आप सूक्ष्म और अदृश्य समझ रहे है। जो पदार्थ वास्तव मे सूक्ष्म है उन्हे तो आप अब भी नही जान पाये है। उन्हे जानने के लिए सूक्ष्म-अभौतिक-चेतनमय उपकरण अपेक्षित है और वह उपकरण अवधिज्ञान है।

अवधिज्ञान प्राप्त होने पर एक ऐसा अद्भुत ससार सामने आ जाता है, जिसे पहले कभी देखा न था और जो साधारण मानव की कल्पना से भी परे है। आकाश के एक-एक प्रदेश मे अनन्त-अनन्त पुद्गलो की अवस्थिति! सूक्ष्म जन्तुओ से ठसाठस भरा हुआ भूतल और आसमान! कितना अपूर्व दर्शन होता है वह! इन्द्रियाँ बेचारी क्या जान सकती है उन्हे? यही अवधिज्ञान की मुख्य विशेषता है। उसकी इन्द्रियनिरपेक्ष प्रवृत्ति भी दूसरी विशेषता है जो इन्द्रियजनित ज्ञान मे नही होती।

क्षयोपशमभेद के कारण अवधिज्ञान अनेक प्रकार[1] का होता है। कोई अवधिज्ञान उत्पन्न होकर और कुछ काल तक ठहर कर नष्ट

[1] (क) स्थानाङ्ग ६ उद्दे. ३, सू. ५२६,

(ख) नन्दीसूत्र.

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र

(घ) विशेषावश्यक भाष्य.

हो जाता है कोई जीवनपर्यन्त या केवलज्ञानपर्यन्त वना रहता है। कोई जितनी मात्रा में उत्पन्न होता है, उससे परिणाम की विशुद्धि की वृद्धि के अनुसार बढता जाता है और कोई परिणाम की मलिनता के कारण घटता चला जाता है। कोई ज्यो का त्यो वना रहता है - न उसमे हानि होती है, न वृद्धि, जव कि किसी - किसी में हानि-वृद्धि दोनो होती रहती है। कोई धीरे-धीरे नष्ट होता है तो कोई विद्युत्प्रकाश की तरह सहसा विलीन हो जाता है।

कोई अवधिज्ञान एक ही दिशा मे अपने ज्ञेय को जानता है। कोई अनेक दिशाओ मे तो कोई सभी दिशाओ मे। कोई जिस दिशा में जितनी दूर तक के पदार्थो को जानता है, उन्हे निरन्तर जानता है, अर्थात् उतनी दूर के लगातार सभी ज्ञेयो को जानता है, कोई सान्तर जानता है अर्थात् वीच-वीच के ज्ञेयो को छोड कर जानता है।

अवधिज्ञान के आकार भी अनेक प्रकार के होते है। यो तो ज्ञान मे अपना कोई आकार नही होता, किन्तु जिस आकार के क्षेत्र मे स्थित वस्तुओ को वह जानता है, वही आकार ज्ञान का कहलाता है।

नारको का अवधिज्ञान तप्राकार (दीर्घ त्रिकोणाकार) होता है, भवनवासी दवो का पल्याकार, ज्योतिष्क देवो का झालर के आकार, वारह देवलोको के वैमानिक देवो का मृदग के आकार, ग्रैवेयकदेवो का पुष्प चंगेरी के आकार, अनुत्तर विमानवासी देवो का यवनालक के आकार का तथा मनुष्यो और देवो का अनियत अनेक प्रकार के आकार का होता है।

कोई अवधिज्ञान अनुगामी होता है, अर्थात् अवधिज्ञानी जहाँ भी जाता है, नेत्र के समान उसका ज्ञान भी साथ-साथ ही जाता है। कोई अवधिज्ञान इससे विपरीत–अननुगामी होता है। जहाँ स्थित रहते

ज्ञान उत्पन्न हुआ वहाँ जब तक स्थित रहे, तब तक तो रहता है, पर अन्यत्र जाते ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार अवधिज्ञान के अनेक रूप है।

मन:पर्यायज्ञान

यह ज्ञान मनुष्यगति के सिवाय अन्य गतिवर्त्ती जीव को नही होता। इसका आभ्यन्तर कारण मन: पर्यायज्ञानावरण का क्षयोपशम और बहिरंग कारण संयम की विशुद्धि है। संयम-विशुद्धि मनुष्य में ही सभव है। अतएव जो मुनि विशुद्ध, प्रवर्धमान अप्रमत्त सयम का धनी तथा लब्धिधारक होता है, वही मन: पर्यायज्ञान प्राप्त कर सकता है।[१]

साधारणतया मन:पर्यायज्ञान दो प्रकार का है— ऋजुमति और विपुलमति।[२] ऋजुमति उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है परन्तु विपुलमति अप्रतिपाती है— केवलज्ञान होने तक बना ही रहता है।[३]

अवधिज्ञान के साथ मन:प्रर्यायज्ञान का कुछ साम्य है तो कई बातो मे वैषम्य भी है। जैसा कि अभी कहा चुका है, अवधिज्ञान चारो गतियो में प्राप्त किया जा सकता है किन्तु मन:पर्यायज्ञान मनुष्येत्तर प्राणियो को प्राप्त नही होता। इसके अतिरिक्त इस ज्ञान की विषय-

---

[१] मणपज्जवणाण पुण,
जणमणपरिचिंतियत्थपागडणं।
माणु सखेन्त निबद्धं,
गुणपच्चइयं चरित्तवओ
—आवश्यक निर्युक्ति ७६

[२] (क) ऋजुविपुलमती मन.पर्यायः — तत्त्वार्थ सूत्र १।२४
(ख) स्थानाङ्ग सूत्र २ उद्दे. १, सू. ७१

[३] विशुद्धयप्रतिपाताभ्या तद्विशेषः — तत्त्वार्थ सूत्र १।२५

मर्यादा मनुष्यक्षेत्र तक ही सीमित है। अवधिज्ञान की अपेक्षा इसमें विशुद्धता भी अधिक होती है।

मनुष्य के चित्त मे जब करुणा, लज्जा या क्रोध का भाव उदित होता है, तो उसकी प्रतिच्छाया चेहरे पर अंकित हो जाती है और उसे देख कर हम समझ लेते है कि इसके चित्त मे क्या भाव उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार मनुष्य जब किसी वस्तु का चिन्तन करता है तो उसके मन की आकृति भी तदनुरूप बन जाती है। मनःपर्यायज्ञान मन की उन विविध आकृतियो को, चेहरे के समान, प्रत्यक्ष देखता है। यही वस्तुतः मन'पर्याय का स्वरूप है। जिन बाह्य पदार्थों का मनुष्य चिन्तन करता है, उन्हे भी मन पर्यायज्ञानी जानता है, मगर अनुमान से।

केवल ज्ञान

जहाँ अपूर्णता है, वहाँ विविधता अवश्यभावी है, किन्तु पूर्णता मे विविधता के लिए अवकाश नही होता। केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है, अतएव उसमें विविधता नही है। स्वरूप से वह एक ही प्रकार का है। यद्यपि स्वामी या समय के भेद से उसमें भिन्नता का आरोप किया जाता है, तथापि ऐसे भेदो से उसकी एकरूपता खण्डित नही होती। केवलज्ञान चाहे सयोगकेवली का हो, अयोगकेवली का हो, या सिद्ध का हो एक ही प्रकार का होता है। सभी अवस्थाओ में केवली समान रूप से समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानते है।[1]

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही एक पक्ष चला आता है जो सर्वज्ञ की सत्ता को स्वीकार नही करता। उसका कहना है कि मानवीय ज्ञान कितना ही अधिक विकसित क्यो न हो जाय, आखिर उसकी मर्यादा अवश्य होनी चाहिए। कोई भी ज्ञान अनन्त नही हो सकता।

[1] सर्वद्रव्यपर्यायेपु केवलस्य. — तत्त्वार्थ सूत्र. १।३०

फिर अनन्त भूत और अनन्त भविष्यत् को जान लेना तो एकदम ही असभव है। इस प्रकार के मन्तव्य के सम्बन्ध मे किंचित् प्रासगिक विचार करलेना उचित होगा।

अनात्मवादियो की बात छोडिए। जो लोग आत्मतत्त्व को स्वीकार करके भी उसे ज्ञानस्वरूप नही स्वीकार करते, उनके सम्बन्ध मे भी यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नही है। किन्तु जो लोग आत्मा को चैतन्यमय स्वीकार करते हैं, वे किस प्रकार सर्वज्ञता को अस्वीकार कर सकते हैं ?

किसी भी वस्तु मे परस्पर विरोधी दो स्वभाव नही हो सकते। शब्द श्रोत्रग्राह्य है तो अश्रोत्रग्राह्य नही हो सकता। इसी प्रकार यदि आत्मा ज्ञानस्वभाव है तो अज्ञानस्वभाव नही हो सकता। यह बात न्यारी है कि आवरण के कारण आत्मा मे ज्ञान के साथ अज्ञान की भी सत्ता पाई जाय, किन्तु अज्ञान आत्मा का स्वभाव नही हो सकता। ज्ञान स्वभाव है तो अज्ञान विभाव होगा ही। विभावपरिणति तभी तक रहती है, जब तक आवरण हो और आत्मा मलीन हो। समस्त आवरणो और मलीनता के हट जाने पर आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में व्यक्त हो जाता है, विभावपरिणति पूर्णतया निश्शेप हो जाती है। ऐसी स्थिति में अज्ञान का अस्तित्व रह ही नही सकता। अज्ञान का पूर्ण रूप से हट जाना और विशुद्ध ज्ञान का उत्पाद हो जाना ही सर्वज्ञता है।

पूर्ण आत्मविशुद्धि हो जाने पर भी अगर कुछ वस्तुएँ ऐसी रह जाती हैं, जिन्हे आत्मा नही जान पाता तो फिर यह भी मानना होगा कि पूर्णत: शुद्ध आत्मा मे अज्ञान शेप रह जाने से अज्ञान भी आत्मा का स्वभाव है। तब क्या ज्ञान भी आत्मा का स्वभाव है और अज्ञान

भी आत्मा का स्वभाव है ? क्या परस्पर विरुद्ध दो स्वभाव एक ही वस्तु मे रह सकते है ?

इस प्रकार तर्क की कसौटी पर सर्वज्ञता खरी उतरती है। आवरणो का क्षय किस विधि से हो सकता है, इस प्रश्न का उत्तर जैनशास्त्रो में बहुत विस्तार से दिया गया है। अप्रस्तुत होने से उसका विचार यहाँ नही किया जाता।

सम्यक्चारित्र : एक परिचयरेखा

सम्यक्चारित्र

सम्यक् चारित्र का महत्त्व :

साधना के तीन सोपानो में सम्यक् चारित्र तीसरा और अन्तिम है। अन्तिम का अर्थ यह है कि जब जीवन में चारित्र की साधना मूर्त्त रूप ग्रहण कर लेती है, तब आत्मा कृतार्थ हो जाता है, उसे चरम और परम फल प्राप्त हो जाता है, उसके अनादिकालीन सताप का, दु.ख का, पीड़ा और व्यथा का अन्त आ जाता है। उसकी अपनी आध्यात्मिक निधि, जो समीपतर होने पर भी दूरतर थी, प्राप्त हो जाती है। अनन्त, अक्षय और अव्याबाध आनन्द का अमर स्रोत प्रवाहित होने लगता है। साधक का जो प्राप्य था, उसे प्राप्त हो जाता है और उसके बाद कुछ भी प्राप्त करना शेष नही रह जाता।

मुक्ति का साक्षात् कारण

यो तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी मोक्ष के कारण है ही, किन्तु साक्षात् कारण चारित्र ही है। सयोग केवली अवस्था में दर्शन एव ज्ञान में परिपूर्णता आ जाती है, किन्तु चारित्र की पूर्णता के अभाव में मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ज्यों ही चारित्र पूर्ण हुआ कि मुक्ति तत्काल हो जाती है। इसी से चारित्र का महत्त्व समझ में आ सकता है।

गहराई से विचार करने पर प्रतीत होगा कि त्रिरूप मोक्षमार्ग मे हेतु-फल भाव सम्बन्ध है। सम्यग्दर्शन का फल सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान का फल चारित्र है।

सामाइयमाईयं सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ।
तस्सवि सारो चरण सारो चरणस्स निव्वाणं ।

श्रुतज्ञान की आद्य सीमा सामायिक और अन्तिम सीमा बिन्दुसार अर्थात् चौदहवाँ पूर्व है। इस पूर्व का ज्ञाता पुरुष श्रुतकेवली या पूर्ण श्रुतज्ञान हो जाता है। किन्तु इस सम्पूर्ण श्रुत का सार चारित्र है और चारित्र का भी सार निर्वाण है।

चारित्र की महत्ता

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से यद्यपि विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और उससे आत्मा आलोकपरिपूर्ण बन जाता है, किन्तु सयम-तप आदि चारित्रयोग के अभाव मे कर्म कटते नही है। संयम वह प्राचीर है जो नवागत कर्मों के परिस्राव को निरुद्ध कर देता है और तप वह आत्मतेज है जो पुरासंचित कर्म-समूह को उसी प्रकार भस्म कर देता है जैसे घास-फूस को अग्नि। इस प्रकार सवरण और तपश्चरण का योग आत्मा को निष्कर्म बना देने में समर्थ होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के परिपाक से पुष्ट आत्मा सम्यक्चारित्र के लोकोत्तर प्रभाव से अपने ध्येय को प्राप्त करता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में

जैनसिद्धान्त के वेत्ता भलीभाँति जानते है कि आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ चौदह वर्णित की गई है। उनमे से प्राथमिक चार

भूमिकाएँ सम्यक्दर्शन के आश्रित है और आगे की समस्त भूमिकाएँ चारित्र पर ही निर्भर है। सम्यग्दृष्टि जीव की भूमिका चौथी है। सम्यक्त्व के बल से इससे आगे की भूमिका नही प्राप्त की जा सकती। उन्हे प्राप्त करने के लिए चारित्र की अपेक्षा है। देशचारित्र जब आत्मा मे प्रकट होता है तो पाँचवी भूमिका पर जीव पहुँचता है और सर्वविरति चारित्र प्राप्त होते ही छठी भूमिका आ जाती है। इसी प्रकार अग्रेतन भूमिकाएँ भी चारित्र के विकास पर अवलम्बित है। अध्यात्मशास्त्र का यह विधान चारित्र की महत्ता को समझने में अतीव उपयोगी है।

व्यावहारिक क्षेत्र में

तथ्य यह है कि—चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र हो, चाहे व्यावहारिक, चारित्र का मूल्य और महत्त्व निर्विवाद है। बडे से बडा विद्वान् हो या वैज्ञानिक, यदि उसका जीवन सदाचार से एकरस नही हो गया है तो कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नही होती है। उसके जीवन का विकास प्रस्फुटित नही होता। उसमें तेज नही आता। अतएव चारित्र के प्रति प्रेरणा करते हुए शास्त्रकार दृढता के साथ चेतावनी देते है—

ससारसागराओ उच्छूढो मा पुणो निबुड्डेज्जा।
चरणगुण विप्पहूणो, वुड्डइ सुबहु पि जाणंतो ॥

हे ज्ञानी, तू इस अहंकार का परित्याग करदे कि मै श्रुतज्ञान से सम्पन्न हूँ, अतएव इसी के बल पर संसार-सागर से पार हो जाऊँगा—निर्वाण उपलब्ध कर लूँगा, क्योकि इस प्रकार के अहकार से ग्रस्त होकर चारित्र को अंगीकार न करने वाले, नाना शास्त्रो के ज्ञाता भी इस ससारसागर में डूब चुके है।

चारित्र की आवश्यकता

ज्ञान के द्वारा ससार और मोक्ष की यथार्थता, उनके कारण और समार से पार होने के उपाय जाने जा सकते है, परन्तु पार होने के लिए तो चारित्र का ही सहारा लेना होता है।

एक जन्म की साधना से तीर्थंकरत्व की प्राप्ति नही होती। लगातार कई जन्मो मे सचित शुभ सस्कारो के प्रभाव से ही तीर्थंकरपद, जो सर्वोच्च पुण्यपद है, प्राप्त होता है। जन्म-जन्म के तपोजनित सुसंस्कारो के परिपाक से उत्पन्न होने वाले तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञानो[1] के धारक होते है। ज्ञानमात्र से ही निस्तार संभव होता तो उन्हे प्रव्रज्या अंगीकार करने की क्या आवश्यकता थी? प्रव्रज्या अगीकार करते ही उन्हे चतुर्थज्ञान मन.पर्याय[2] भी प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् भी वे घोर तपश्चरण क्यों करते है? जब चार ज्ञान के धारको को भी चारित्र की उज्ज्वलता और पूर्णता प्राप्त करने के लिए घोरतर तप करना पड़ता है, तव साधारण प्राणी किस प्रकार अपने पाण्डित्य के वूते पर ससारसागर से पार होने की आशा कर सकता है?

आपने श्रुत-सागर के अनेक वहुमूल्य मोती वटोर लिये है, व्याकरण, साहित्य, दर्शन और विज्ञान में पारगामी पाण्डित्य प्राप्त कर लिया है, आप श्रेयस्-अश्रेयस् को समीचीन रूप से पहचानते है, किन्तु विकास की पगडंडी पर एक कदम भी चलते नही, तो आपका ज्ञान आखिर किस काम का है?

---

[1] "मइ सुय ओहि तिण्णाणा जाव गिहे पच्छिम भवाओ"

सप्ततिस्थान प्रकरण द्वार-४४

[2] "जायं च चउत्थ मण णाण"

सप्ततिस्थान, द्वार-७१

सुबहु पि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पमुक्कस्स ?
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ॥
अप्पं पि सुयमहीयं, पगासयं होइ चरणजुत्तस्स ।
एक्को वि जह पईवो, सचक्खुअस्स पयासेइ ॥

—विशेषावश्यकभाष्य

अंधे के आगे सौ, हजार और करोड प्रदीप भी यदि प्रज्वलित कर दिये जाएँ तो उनसे उस का क्या उपकार होगा ? सूझते के लिए तो एक ही दीपक पर्याप्त है। जिसे जीवनशोधन के राजपथ पर अग्रसर होना है, उसके लिए अल्प श्रुत भी पर्याप्त है और जो बहुश्रुत होकर भी साधना के पथ पर नही चलता, उसे जीवन शोधन की दृष्टि से कुछ भी लाभ नही प्राप्त होता।

अभिप्राय यह है कि साधक जब अपना लक्ष्य सही तौर पर स्थिर कर लेता है, उसकी रुचि, प्रतीति और श्रद्धा सही दिशा मे स्थिर होती है और वह हेय-उपादेय को सम्यक् प्रकार से समझ लेता है और इतनी भूमिका के आधार पर साधना के क्षेत्र मे अग्रसर होता है, तभी अपने साध्य को प्राप्त करने में समर्थ होता है। रत्नत्रयी की इस त्रिवेणी मे अवगाहन करने वाला साधक अपने चिरसचित, जन्मजन्मान्तर में उपार्जित कलमषो को धो डालता है और पूर्ण रूप से कलुषहीन-कर्म रहित होकर निज स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

चारित्र के दो रूप

गृहस्थ और त्यागी

गृहस्थ हो अथवा त्यागी, दोनो की श्रद्धा एकसी होती है, किन्तु चारित्र के सम्बन्ध मे यह बात नही है। गृहस्थ और गृहत्यागी की परिस्थितियाँ इतनी भिन्न होती है कि दोनो समान रूप से चारित्र का परिपालन नही कर सकते। गृहस्थ यदि साधु के कर्त्तव्य के पालन करने का उत्तरदायित्व वहन करना चाहे तो वह न ऐसा कर ही सकता है और न ऐसा वांछनीय है। वह न इधर का रहेगा और न उधर का रहेगा।

गृहस्थ और गृहत्यागी के उत्तरदायित्वो मे महान् अन्तर है। गृहस्थ पर अपने परिवार का, जाति का, समाज का और राष्ट्र का उत्तरदायित्व है। उसे अपना और परिवार का भरणपोषण करने के लिए नाना प्रकार की आजीविकाएँ अपनानी पडती है, समाज और देश के प्रति कर्त्तव्य का पालन करने के लिए अनेक आयोजनाएँ करनी पडती हैं। सन्तान का शादी-विवाह करना पडता है। सैकड़ो कार्य करने पडते हैं। इन सब कार्यो मे होने वाला आरभ-समारंभ सकल चारित्र का सर्वथा बाधक है।

यही नहीं, कई ऐसे कार्य भी हैं जिन्हे साधु नही कर सकता, मगर उन्हे गृहस्थ न करे तो वह अपने कर्तव्य से च्युत होता है।

उदाहरणार्थ-साधु सचित्त वनस्पति एव जल का उपयोग नही करते किन्तु गाय-भैंस पालने वाला गृहस्थ यदि अपने आश्रित इन पशुओ को समय पर घास-पानी आदि आहार नही देता तो उसका अहिंसा व्रत दूषित होता है ।

तात्पर्य यह है कि दोनों की परिस्थतियो मे इतना वैषम्य है कि उनके कर्त्तव्य स्वत: अलग-अलग हो जाते है ।

धर्म रसायन है

किन्तु धर्म तो प्राणीमात्र के लिए है । धर्म सार्व है; ऐसा लोकोत्तर रसायन है कि प्रत्येक जीवधारी उसका सेवन करके अमरत्व प्राप्त कर सकता है । हाँ, चाहिए अभिलाषा और योग्यता । वह न हो तो बात अलग है ।

धर्म केवल त्यागियो के लिए ही होता तो संसार में उसकी इतनी महिमा न होती । मगर ऐसा नही है । धर्म के प्रवर्त्तक ज्ञानी पुरुष थे । उन्होंने धर्म का सकीर्ण स्वरूप जगत् के समक्ष प्रस्तुत नही किया, वरन् उसे ऐसा विशाल रूप प्रदान किया है कि वह गृहस्थ और गृहत्यागी – दोनो के लिए आचरणीय और आदरणीय है जहाँ वह त्यागियो को साधना की सडक पर आगे बढाता है वहाँ रागियो के राग-मल को धोकर सुपथगामी बनाता है और सही मार्ग दर्शन करता है । भगवान् श्री महावीर ने अपने संघ मे जहाँ साधुओ और साध्वियो को स्थान दिया, वही श्रावको और श्राविकाओ को भी स्थान देकर चतुर्विध सघ की प्रतिष्ठा की है ।

गृहस्थ का महत्त्व

इतना ही नही, भगवान् ने गृहस्थो के सम्बन्ध में समय समय पर जो प्रशंसापूर्ण उद्गार व्यक्त किये है और जो आज तक जैनागमो में

सुरक्षित रह गये है, उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि धर्म के प्रागण मे गृहस्थ का स्थान साधारण नही है। भगवान् का यह उदात्त उद्‌गार अनायास हो स्मृतिपटल पर प्रतिबिम्बित हो उठता है—

सति एगेहि भिक्खूहि,
गारत्था सजमुत्तरा।

—उत्तराध्ययन।

कितनेक ही गृहस्थ, भिक्षुओ से भी संयमोत्तर-संयम में वढे-चढे होते है।

कितने ही सूत्रो के स्वर्णपृष्ठ भगवान् श्री महावीर द्वारा की गई गृहस्थो की प्रशंसा से भरे है। कई वार भगवान् ने अपने साधु अन्तेवासियो को गृहस्थ के समक्ष वुला कर उसकी प्रशस्ति की और साधुओ को उस गृहस्थ से प्रेरणा ग्रहण करने के लिए उत्साहित किया है[1] यह प्रशंसा या तो गृहस्थ की तत्त्वज्ञता[2] के लिए या सयमनिष्ठा के लिए की गई है।

---

[1] कामदेव श्रावक की दृढता को सलक्ष्य में रखकर श्रमण व श्रमणियो को सम्वोधित कर भ. ने कहा—

अज्जो ! समणोवासगा गिहिणो गिहिमज्झावसता दिव्वमाणु-सतिरिक्ख जोणिए उवसग्गे सम्म सहंति जाव अहियासेंति, सक्का पुणाइ अज्जो। समणेहिं निग्गथेहिं दुवालसंगं गणिपीडगं (आहिज्ज-माणेहिं उवसग्गा) सहित्तए जाव अहियासित्तए”

— उपासक-२

[2] (क) त धन्नेसि ण तुम कु डकोलिया—

— उपासक-६

(ख) त सुट्ठुण तुम मद्दुया ! ते अन्नउत्थिए एवं वयासी साहूण तुम मद्दुया ! जाव एवं वयासी। -- भगवती—१८-७

भावना भव नाशिनी

धर्म का सम्बन्ध मुख्यतया भावना के साथ है। भावना की पवित्रता, उच्चता और दिव्यता गृहस्थावस्था में भी असभव नही है। चक्रवर्ती भरत ऊपर-ऊपर से कितने आरंभनिरत और दुनियादारी में फँसे दिखाई देते थे, मगर उनकी भावना की क्या स्थिति थी? भावना यद्यपि दृश्य वस्तु नही है और एक की भावना को दूसरा कोई देख नही पाता, तथापि कार्य-फल से उसका यथावत् अनुमान हो ही जाता है। भरत चक्रवर्ती केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करने के लिए भवन त्याग कर वनवासी नही बने थे। उन्होने राजमहल मे ही कैवल्य प्राप्त किया[1]। गृहस्थ यदि साधना के उच्चतर शिखर का स्पर्श नही कर सकता तो भरतजी किस बल पर केवली हो सके? यथार्थ ही कहा गया है :—

> वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्,
> गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तप ।
> अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते,
> निवृत्तरागस्य गृह तपोवनम् ॥

भवन और वन सयम के नियामक नही है। अधर्म और पाप भवन मे ही अवरुद्ध रहते है और वन मे उनका प्रवेश नही हो सकता, इस धारणा का कोई आधार नही है। वन मे महान् तपस्वी, ससारविरक्त महात्मा विचरण करते है तो बटमार, डाकू और लुटेरे भी रहते है। भवन के सम्बन्ध मे भी यही सत्य चरितार्थ है। भवनो मे यदि उच्छृखल विलास और पापाचार है तो धर्म और संयम का भी अभाव नही है।

---

[1] त्रिषष्ठि शलाका पुरुष, १ पर्व, सर्ग ६

गृह भी तपोवन

वनवासी का हृदय मोह, ममता, कामना, आसक्ति एवं अनुराग का अखाडा है तो वनवासी और वन्य पशु मे क्या अन्तर है? और यदि भवन-निवासी की पाँचो इन्द्रियाँ विषयासक्त नही है, चित्त भोगो के विद्यमान होने पर भी, जल मे पकज के समान, लिप्त नहीं है तो वह किसी तपस्वी से क्या कम है ? वस्तुत: अनासक्त पुरुष के लिए गृह भी तपोवन है।

इस प्रकार गहस्थजीवन मे भी धर्म एव संयम की साधना-आराधना तो हो सकती है, मगर साधक को जव उत्कृष्ट आराधना अभीष्ट होती है उसे गार्हस्थिक वातावरण से अपना नाता तोडना पडता है। गृहत्याग से उत्कृष्ट सयम की साधना मे सहायता मिलती है, क्योकि त्याग-अवस्था मे सहज ही जो निर्द्वंद्वता प्राप्त हो सकती है, गृहस्थावस्था मे वह दुर्लभ है।

दो विभाग

इसी विचार भूमिका के आधार पर अधिकारी-भेद से जैनशास्त्रो मे चारित्र के दो विभाग कर दिये गये है—सर्वविरति और देशविरति[१]। मन, वचन, काय से हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का सेवन स्वयं न करना, दूसरो से न करवाना और सेवन करने वाले का अनुमोदन न करना सर्वविरति– पूर्णरूपेण पापो का परित्याग कहलाता है और आंशिक रूप से इन पापो का त्याग करना देशविरति है।

स्पष्ट है कि सर्वविरति और देशविरति के मूल आधार मे कोई अन्तर नही है; अन्तर है सिर्फ उनके आचरण की मर्यादा मे। जागतिक उत्तरदायित्वो से मुक्त अनगार जिन हिंसा आदि पापो का त्रियोग और त्रिकरण से परित्याग करता है, उन्ही को गृहस्थ अपनी शक्यता के अनुसार आंशिक रूप मे त्याग करता है।

---

१ स्थानाङ्ग २, उद्देशक १, सूत्र-७२.

ज़िन्दगी के हीरे

पात्रता

नीति और धर्म का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि साधारणतया दोनों का पृथक्करण करना भी कठिन हो जाता है। वास्तव मे नीति, धर्म की नीव है। इमारत की मजबूती नीव की दृढता पर निर्भर है। इसी प्रकार धार्मिकता का प्रधान आधार नैतिकता है। जिस मनुष्य के जीवन मे नैतिकता का कोई मूल्य नही है, उसमे धार्मिकता का अंकुर पनप नही सकता। अतएव अनिवार्य है कि धर्म की प्रतिष्ठा से पहले जीवन में नीति की प्रतिष्ठा की जाय।

मार्गानुसारी के गुण

जैनसाहित्य मे जीवन को नीतिमय बनाने के लिए आवश्यक कतिपय विषयो का उल्लेख किया गया है, जिन्हे 'मार्गानुसारी के गुण[1]' कहते हैं। धर्ममार्ग का अनुसरण करने वाले गृहस्थ को ये गुण अवश्य प्राप्त करने चाहिए। इनके अभाव में धार्मिकता, प्रदर्शन और उपहास की वस्तु बन जाती है। वे गुण इस प्रकार है—

पहली बात—गृहस्थ न्याय-नीति से ही धनोपार्जन करे। मित्रद्रोह, स्वामीद्रोह, राज्यद्रोह, रिश्वत, ब्लैक मार्केटिंग, चोरी, डकैती आदि

---

[1] योगशास्त्र प्रथम प्रकाश ४७ से ५६ श्लोक.

अनैतिक साधनो को अपनाना धार्मिकता का गला घोटना है। इससे समाज में अव्यवस्था, उच्छृंखलता और अशान्ति उत्पन्न होती है। व्यक्ति का जीवन भी निन्दनीय और अशान्त बन जाता है।

दूसरी बात—समाज मे जो ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध शिष्ट जन है, उनका यथोचित सन्मान करना, उनसे शिक्षा ग्रहण करना और उनके आचार की प्रशंसा करना।

तीसरी बात—समान कुल और आचार-विचार वाले, स्वधर्मी किन्तु भिन्न गोत्रोत्पन्न जनो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करना।

चौथी बात—चोरी, परस्त्रीगमन, असत्यभाषण आदि पापकर्मों का ऐहिक-पारलौकिक कटुक विपाक जान कर पापाचार का त्याग करना।

पांचवी बात—अपने देश के कल्याणकारी आचार-विचार का और संस्कृति का पालन-संरक्षण करना और विदेशी व्यवहार की नकल न करना।

छट्ठी बात—दूसरे की निन्दा न करना।

सातवी बात—ऐसे मकान में निवास करना जो अधिक खुला और अधिक गुप्त न हो, जो सुरक्षा वाला भी हो और जिसमें अव्याहत वायु एवं प्रकाश आ सके।

आठवी बात—सदाचारी जनो की संगति करे।

नौवी बात—माता-पिता का सन्मान-सत्कार करना, उन्हे सब प्रकार से सन्तुष्ट रखना।

दूसवी वात—जहाँ स्वचक्र या परचक्र का भय हो, वातावरण शान्तिप्रद न हो, जहाँ रहने से निराकुलता के साथ जीवन यापन करना कठिन हो, ऐसे ग्राम या नगर मे निवास न करना।

ग्यारहवी वात—देश, जाति एवं कुल से विरुद्ध कार्य न करना, जैसे मदिरापान आदि।

बारहवीं वात—देश और काल के अनुसार वस्त्राभूषण धारण करना।

तेरहवी वात—आय से अधिक व्यय न करना और आयोग्य क्षेत्र मे व्यय न करना।

चौदहवी वात—धर्मश्रवण की इच्छा रखना, अवसर मिलने पर श्रवण करना, शास्त्रो का अध्ययन करना, उन्हे स्मृति मे रखना, जिज्ञासा से प्रेरित होकर शास्त्रचर्चा करना, विरुद्ध अर्थ से वचना, वस्तुस्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करना और तत्त्वज्ञ बनना, बुद्धि के इन आठ गुणो को प्राप्त करना।

पन्द्रहवी वात—धर्मश्रवण करके जीवन को उत्तरोत्तर उच्च और पवित्र बनाना।

सोलहवी वात—अजीर्ण होने पर भोजन न करना, यह स्वास्थ्यरक्षा का मूल मत्र है।

सतरहवी वात—समय पर प्रमाणोपेत भोजन करना, स्वाद के वशीभूत हो अधिक न खाना।

अठारहवी वात—धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करना कि जिससे किसी मे वाधा उत्पन्न न हो। धनोपार्जन के

विना गृहस्थाश्रम चल नही सकता और गृहस्थ काम पुरुपार्थ का भी सर्वथा त्यागी नही हो सकता, तथापि धर्म को वाधा पहुँचा कर अर्थ काम का सेवन न करना चाहिए।

उन्नीसवी बात—अतिथि, साधु और दीन जनो का यथायोग्य आदर करना।

वीसवी बात--असत् के लिए आग्रहशील न होना।

इक्कीसवी बात--सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य आदि गुणो के प्रति पक्षपात होना और इन गुणो को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना।

वाईसवी बात—अयोग्य देश और अयोग्य काल मे गमन न करना।

तेईसवी बात—देश, काल, वातावरण और स्वकीय सामर्थ्य का विचार करके ही कोई कार्य प्रारंभ करना।

चौबीसवी बात—आचारवृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरुषो को अपने घर आमन्त्रित करना, आदरपूर्वक विठलाना, सन्मानित करना और उनकी यथोचित सेवा करना।

पच्चीसवी बात—माता, पिता, पत्नी, पुत्र आदि आश्रितो का यथायोग्य भरण-पोषण करना, उनके विकास मे सहायक वनना।

छब्बीसवी बात—दीर्घदर्शी होना। किसी भी कार्य को प्रारभ करने से पूर्व ही उसके गुणावगुण पर विचार कर लेना।

सत्ताईसवी बात—विवेकशील होना। जिसे हित-अहित, कृत्य-अकृत्य का विवेक नही होता, उस पशु के समान पुरुप को अन्त मे पश्चात्ताप करना पड़ता है।

अट्ठाईसवी बात—गृहस्थ को कृतज्ञ होना चाहिए। उपकारी के उपकार को विस्मरण कर देना योग्य नही।

उनत्तीसवी बात—अहकार से बचकर विनम्र होना चाहिए। विनयवान् पुरुष सर्वत्र प्रशसा पाता है और आदृत होता है।

तीसवी बात—लज्जाशील होना चाहिए। लज्जाशीलता से मनुष्य बहुत से दुर्गुणो और पापो से बच जाता है।

इकत्तीसवी बात—करुणाशील होना चाहिए। करुणा सम्यक्त्व का अंग है, धर्म का मूल है।

बत्तीसवी बात—सौम्य होना चाहिए।

तैंतीसवी बात—यथाशक्ति परोपकार करना चाहिए।

चौंतीसवीं बात—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य, इन आन्तरिक रिपुओ से बचना चाहिए।

पैंतीसवी बात—इन्द्रियो को उच्छृ़खल न होने देना चाहिए। इन्द्रियविजेता गृहस्थ ही धर्म का आराधन करने की पात्रता प्राप्त करता है।

गृहस्थ के जीवन में इन सद्‌गुणो की प्रतिष्ठा होगी तो उसमें धार्मिकता के अकुर अनायास ही पनप उठेंगे। ये गुण गृहस्थधर्म की पात्रता की प्राप्ति के साधन है।

दुर्व्यसन

इन उल्लिखित गुणो के साथ, गृहस्थधर्म को धारण करने से पूर्व, कुछ और बुराइयो से भी बचना आवश्यक है। वे बुराइयाँ इतनी भयकर है कि उनके रहते धार्मिकता तो क्या, भद्रता भी जीवन में नही

आ सकती। जैनधर्म मे उन्हे 'दुर्व्यसन'[1] की सज्ञा प्रदान की गई है और वे मुख्य रूप से सात है :—

द्यूत :

जुआ खेलने की कुटेव से, कौन-से पाप का प्रवेश नही हो जाता ? जुआरी सर्वत्र निन्दनीय और अविश्वस्त गिना जाता है। इसका फल कभी-कभी अत्यन्त कटुक होता है और वह समस्त जीवन को नष्ट-भ्रष्ट बना देता है। 'धर्मराज' की गौरवार्ह पदवी से विभूषित युधिष्ठिर जैसे शक्तिशाली पुरुष को जुए की बदौलत कितनी विपदाओ का सामना करना पडा, यह सर्वप्रसिद्ध है। राज्य से हाथ धोना पडा। द्रौपदी जैसी सती महिला के घृणाजनक घोरतम अपमान का कडुवा घूंट पीना पडा ! दीर्घ काल तक जंगलो मे छिपे-छिपे भटकना पडा ! महाभारत करके कुल और देश की असीम क्षति बर्दाश्त करनी पडी। पश्चात्ताप के दावानल का ईधन बनना पडा ! उन्ही को नही, उनके प्रबल बलशाली भाइयो को भी लोमहर्षक यातनाएँ सहनी पडी !

और नल जैसे महाराजा को दर-दर का भिखारी किसने बनाया था ? जुआ ने ही न ?

जुआ ऐसा उन्माद है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य आँख रहते अधा और मस्तिक की नसे ठीक रहते पागल हो जाता है। वह अपने भविष्य को भूल जाता है। परिवार को घोर सकट मे डाला देता है ! अतएव धर्म-मार्ग के अनुयायी को इस दुर्व्यसन से बचना चाहिए।

मांसभक्षण :

यह निर्दयता और पशुता की सब से बडी निशानी है। वह मनुष्य, मनुष्य नही, पिशाच है जो अपने जैसे चलते-फिरते और पीडा

---

[1] देखिए—गौतम कुलक.

से प्रत्यक्ष आर्ति अनुभव करते प्राणी की जीवनलीला समाप्त करके उसे जीभ के क्षणिक सतोष के लिए, उदरस्थ कर जाता है।

मानव, सभ्यता के उच्च शिखर पर आरूढ कहलाता है, किन्तु उसकी मासभक्षण की आदत सिद्ध करती है कि उसमे पशुता का निम्न स्तर अब भी मौजूद है। मनुष्य भक्षी मनुष्य असभ्य और असस्कारी गिना जाता है तो पशुभक्षी मनुष्य को सभ्य और संस्कारी कैसे कहा जा सकता है? मनुष्य मे जो चेतना है, वही क्या पशु में नही है? उसे सुख-दुख का अनुभव नही होता? उस निर्दय और नृशस मनुष्य के वज्र-कठोर अन्त करण मे धर्म का मृदुल अंकुर कदापि नही उग सकता जो पचेन्द्रिय प्राणी की हत्या से उत्पन्न मास से अपनी जिह्वा को तृप्त करता है। अतएव जो धर्मसाधना के पथ का पथिक बनना चाहता है, उसे अपना चित्त कोमल और करुणामय बनाना होगा और मास भक्षण जैसे राक्षसी कृत्य से बचना होगा।

मदिरापान

मदिरापान के सम्बन्ध मे अधिक कहने की आवश्यकता नही। यह ऐसी बुराई है जिसे इसका सेवन करने वाले भी घोर बुराई मानते है। जो एक बार मदिरापान का व्यसनी बन चुका है, वह इतना लाचार, असमर्थ एवं सत्वहीन बन जाता है कि उससे बचना चाह कर भी नही बच सकता। मदिरापान से किस प्रकार आबाद घर बर्बाद होते है किस प्रकार उदीयमान जीवन विनष्ट हो जाता है और किस प्रकार परिवार का स्वर्ग श्मशान बन जाता है, यह एक रोमाचकारी करुण कहानी है, जिसे भुक्तभोगी भलोभाँति जानते है। अतएव जो चाहता है कि उसकी इसानियत का दिवाला न निकले, उसे मदिरापान से कोसो दूर रहना चाहिए।

खेद है कि भारत जैसे धर्मप्रधान देश मे यह बुराई अब भी मौजूद है, जब कि देश स्वाधीन हो चुका है। भारत सरकार अगर प्रजाजीवन की कुशल चाहती है तो उसे शीघ्र से शीघ्र मदिरा के आयात, निर्माण और सेवन पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। जिस देश की दरिद्र प्रजा भरपेट भोजन नही पाती, उस देश मे करोडो रुपये मदिरापान मे बर्बाद हो और परिणामस्वरूप करोडो जीवन अकर्मण्य, मुर्दार और निकम्मे बन जाएँ, उस देश का प्रजावत्सल शासन कैसे यह सहन कर सकता है, यह विस्मय का विषय है।

वेश्यागमन

यह दुर्व्यसन कुल की कीर्ति पर कलक की कालिमा पोतने वाला है। विश्वासघात का प्रकट विज्ञापन है। सभ्यता और शिष्टता का दिवाला है। उस देश और समाज को कैसे सभ्य कहा जा सकता है, जिसकी नारियाँ उदर की ज्वाला को शान्त करने के लिए अपनी इज्जत-आबरू और शरीर को बेचने के लिए विवश होती हैं।

सन्तोष का विषय है कि शासन का ध्यान इस बुराई की ओर आकर्षित हुआ है और वेश्यावृत्ति के उन्मूलन करने के प्रयत्न चल रहे है।

शिकार

मासभक्षण और शिकार का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथापि कभी-कभी केवल मनोरजन के लिए भी शिकार किया जाता है। पर बहुत बार मै सोचा करता हूँ, वह कैसा मन है, और किसका मन है, जो निरपराध जीवधारियो की जीवनलीला समाप्त करके रंजित होता है ? वह मानव का मन नही हो सकता, किसी पिशाच का, दैत्य का, राक्षस का ही मन हो सकता है। सहृदय और शिष्ट पुरुष किसी के चित्त को आघात पहुँचाने वाला उपहास वचन भी नहीं कहते तो किसी मूक

गरीब प्राणी के प्राणो का मनोरंजन के लिए घात किस प्रकार कर सकते है ? शिकार का व्यसन अत्यन्त घृणित व्यसन है और जो पापभीरु है, वह इसे अपना नही सकता। इस व्यसन के रहते गृहस्थ के योग्य चारित्र (गृहस्थधर्म) का पालन नही हो सकता।

चौर्य कर्म

चोरी की कुटेव भी गृहस्थधर्म का विघात करने वाली है। जो मनुष्य इस दुर्व्यसन का शिकार हो जाता है उसे चोर समझ कर लोग घृणा और शंका की दृष्टि से है और उसका विश्वास नही करते। चोर का चित्त क्षण भर के लिए भी शान्ति नही पाता। उसके मन मे सदैव उथलपुथल व्यग्रता और व्याकुलता बनी रहती है। धर्म का परिपालन करने की पात्रता प्राप्त करने के लिए इस व्यसन से दूर रहना भी आवश्यक है।

परस्त्री गमन

यह विषयासक्ति का वर्धक, समाज की सुव्यवस्था का विनाशक, और अनेक भयंकर अनर्थों तथा पापो का जनक कुव्यसन है।

चोरी और परस्त्री गमन का त्याग चारित्र के आधार भूत पाँच व्रतो मे सम्मिलित है। व्रतो की चर्चा में उन पर विशेष प्रकाश डाला जाएगा।

इन सात दुर्व्यसनो का त्यागी ही गृहस्थ धर्म का पात्र बनता है। अतएव लौकिक और लोकोत्तर दोनो दृष्टियो से इनसे बचना आवश्यक है।

मार्गानुसारी के ये गुण जिन्दगी के हीरे है, जो जिन्दगी को चमकाते है, बहुमूल्य बनाते है और दुर्व्यसन, जीवन को निरस व सत्व हीन बनाते है। साधक का कर्तव्य है कि वह दुर्व्यसनो का परित्याग कर सद्‌गुणो को ग्रहण कर जीवन को सुखमय, मंगलमय बनावें।

श्रावक धर्म

देशविरति :

जीवादि नव तत्त्वो, षट्द्रव्यो, पाच अस्तिकाय आदि वीतराग प्ररूपित समस्त भावो पर यथार्थ श्रद्धान और उनके सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न तथा पूर्वोक्त पात्रता प्राप्त करने वाला मुमुक्षु मुक्तिमार्ग मे अग्रसर होता है और समस्त पापो का परित्याग करके पूर्ण सयममय जीवन यापन करने को उद्यत होता है। उसकी अन्तरतर की भावना यही होती है कि मेरी आत्मा मे पाप की कालिमा का लेशमात्र भी स्पर्श न हो। तथापि जब तक वह काषायिक दुर्बलता से पर्याप्त रूप से पिण्ड नही छुडा लेता और सर्वविरतिचारित्र के लिए आवश्यक प्रत्याख्यानावरण कषाय पर विजय नही प्राप्त कर लेता, तब तक अभिलाषा और भावना होने पर भी उसे सर्वविरतिचारित्र की प्राप्ति नही होती। अनन्तानुबधी कषाय के उदय को नष्ट करके वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर सका था। तत्पश्चात् जब देशविरतिविघातक अप्रत्याख्यानावरण कर्म का भी अभाव हो जाता है, मगर प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है, तब देशविरतिचारित्र का प्रादुर्भाव होता है।

देशविरतिचारित्र की सीमा बहुत विस्तृत है। साधक अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार न्यूनाधिक रूप मे व्रतो एवं नियमो को अंगीकार

करते हैं। तथापि मध्यम रूप से उसका स्वरूप बारह व्रतो का तथा उन व्रतो की सुरक्षा के लिए आवश्यक नियमो का पालन करना है। बारह व्रतो मे पांच अणुव्रत, -तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत है। सक्षेप में इनका परिचय यो है—

पाँच अणुव्रत[1]

१– अहिंसाणुव्रत—निरपराध त्रस जीवो का सकल्पपूर्वक वध न करना।

२– सत्याणुव्रत—स्थूल असत्य भाषण न करना, अर्थात् जिस असत्य से अनर्थ उत्पन्न हो सकता है, जिसके प्रयोग से किसी को क्षति होती हो, किसी की प्रतिष्ठा को बट्टा लगता हो और जो असत्य लोकनिन्दित हो, उसका प्रयोग न करना।

३– अस्तेयाणुव्रत—राज्यदण्डनीय चोरी न करना।

४– ब्रह्मचर्याणुव्रत—परस्त्रीगमन न करना और स्व स्त्री गमन में भी मर्यादायुक्त होना।

५– परिग्रहपरिमाणाणुव्रत—तृष्णा और लालसा को सीमित करने और व्याकुलता से बचने के लिए सचित्त, अचित्त एव मिश्र परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेना।

---

[1] (क) हरिभद्रीय आवश्यक अध्याय-६
(ख) स्थानाङ्ग ५. उ. १ सूत्र–३८६
(ग) उपाशक दशाङ्ग अध्य. १ सूत्र–७
(घ) धर्म सग्रह,
(ङ) हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्"
"देशसर्वतोऽणु महती — तत्त्वार्थ अ ७-१-२

तीन गुणव्रत[1]

६– दिग्व्रत—दशो दिशाओ मे आने-जाने की मर्यादा करके, उसका उल्लघन न करना।

७– उपभोग परिभोग परिमाण—इस व्रत में, एक ही वार काम में आने योग्य अन्नादि तथा पुनः पुन भोगने योग्य वस्त्रादि पदार्थों की मर्यादा की जाती है। यह भोगोपभोग परिमाण व्रत, मूल व्रत, (परिग्रह परिमाण) की पुष्टि के लिए आवश्यक है। दोनो का उद्देश्य जीवन की वढी हुई अमर्याद आवश्यकताओ को नियंत्रित करना है। जव तक मनुष्यजीवन मे सन्तोपवृत्ति का उदय नही होता और आवश्यकताओ को नियन्त्रित एव सकुचित नही किया जाता तब तक जीवन शान्तिमय, आकुलतारहित और धर्मोन्मुख नही बन सकता। आज जो सर्वव्यापी अशान्ति दिखलाई देती है, उसका विषमय मूल आवश्यकताओ की अनापसनाप वृद्धि मे ही है। सुख-सन्तोष की प्राप्ति के लिए यह दोनो व्रत अनिवार्य है।

८– अनर्थदण्डविरमण—शरीररक्षा आदि के लिए अनिवार्य आवश्यक दड अर्थदण्ड कहलाता है और निरर्थकदण्ड अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करदेने से अनायास ही वहुत से पापो से वचाव हो सकता है।

चार शिक्षाव्रत[2]

९– सामायिकव्रत—आर्त्त-रौद्र ध्यान का तथा पापमय कार्यों का त्याग करके एक मुहूर्त पर्यन्त समभाव मे रहना सामायिक है। इस

[1] वही उपरोक्त ग्रन्थ।

[2] आवश्यक वृहद्वृत्तिः प्रत्याख्यानाध्ययन—आचार्य हरिभद्र

(ख) प्रथम पञ्चाशक गाथा—२५ से ३२ तक।

व्रत से समग्र जीवन को समभावमय बनाने का अभ्यास किया जाता है ।

१०– देशावकाशिकव्रत—दिशाव्रत मे किये हुए परिमाण को दिन मे, रात्रि मे या प्रहरादि काल तक के लिए और अधिक सक्षिप्त कर लेना ।

११-पौषधव्रत—पर्व तिथियो मे तपस्या करना, सावद्य क्रियाओ का त्याग करना, ब्रह्मचर्य पालना, शरीरशोभा का त्याग करना ।

पूर्ण सयममय जीवन यापन करना श्रावक का मनोरथ होता है । वह मनोरथ, मनोरथ ही न बना रहे, उसके लिए आवश्यक तैयारी भी हो उसका पूर्वाभ्यास हो और मुनिजीवन व्यतीत करने की क्षमता गृहस्थजीवन मे ही प्राप्त हो जाय, इत्यादि दृष्टियो से यह व्रत महत्त्वपूर्ण है ।

१२– अतिथिसंविभाग—अतिथियो को अर्थात् पूर्ण सयम की साधना मे निरत त्यागीजनो को आहारादि प्रदान करना ।

श्रावक के यह बारह व्रत देशविरति कहलाते है । शास्त्रो मे इनका विशद वर्णन है, अतएव यहाँ सक्षेप मे ही उल्लेख किया गया है । मोक्ष की साधना का क्रम किस प्रकार अग्रसर होता है यह समझने के लिए इन व्रतो के स्वरूप को समझना आवश्यक है ।

प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार है, जो प्रसिद्ध है । सातवे व्रत के अतिचारो मे विशिष्ट पापजनक व्यापारो और आजीविकाओ का भी समावेश होता है ।

व्रत विधान क्यों !

व्रतो के स्वरूप पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि व्रतविधान के द्वारा जीवन को अधिक से अधिक नियन्त्रित करने का सुन्दर प्रयास किया गया है। किस प्रकार जीवन अधिक से अधिक त्याग की ओर प्रगति कर सके, हल्का बन सके, पापाचार से बचाव हो सके, सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सके और अन्त में पूर्ण सयम के योग्य बन सके, यही दृष्टिकोण इसमे ओतप्रोत है। इसी उद्देश्य को और अधिक समीप लाने के लिए श्रावक के लिए भी षट् आवश्यक क्रियाओं-सामायिक, प्रतिक्रमण आदि का विधान किया गया है।

卐

श्रमण धर्म

सर्वविरति

मनुष्यो का अधिक भाग ऐसा है जो अपने जीवन को, जीवनरक्षा के प्रयासो में ही खपा देता है। अन्न वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थों की उपलब्धि करके जीवन को टिकाये रखना ही मानो उनके जीवन का चरम उद्देश्य है। यह बात अलग है कि उनके प्रयास अन्त में धूल में मिल जाते है और जीवन का अवश्यभावी अन्त उन्हे विफलता का ही पुरस्कार प्रदान करता है, मगर जब तक वे जीते है, जीवन-रक्षा के स्थूल प्रयासो में ही संलग्न रहते है।

जीवन क्या है ?

कुछ लोग ऐसे भी है जिन्हे जीवनयापन के साधन अनायास ही प्राप्त है और प्रचुरता से प्राप्त है। उन्हे जीवनसाधनो के लिए खास प्रयास करने की आवश्यकता नही होती। किन्तु साधनो की प्रचुरता ही उन्हे आत्म-विस्मृत बना देती है। वे भोग-उपभोग की सामग्री मे ही खो जाते है। विलास के बीहड अंधड़ मे, आक की रुई के समान उड़ते रहते है। विलास की वारुणी उन्हे होश मे नही आने देती जब देखते है, तब बाहर की ओर ही देखते है। अपनी ओर नजर करने की फुर्सत ही उन्हे नही होती।

उगलियो पर गिनने योग्य विरले पुरुप ही है जिनके हृदय में जीवन सवन्धी जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होता है और जो जीवन के सवध मे गहराई से विचार कर सकते है। जिनका वैचारिक स्तर उच्चकोटि का है, वे ही इस सम्वन्ध मे विचार करते है।

जीवन संवधी जिज्ञासा का प्रथम रूप है–वस्तुतः यह जीवन क्या है ? इसकी कृतार्थता और धन्यता कहाँ निहित है ? क्या करके हम जीवन का सदुपयोग कर सकते है ? अपने आपको पहचानना कितना कठिन और कितना सरल है।

जीवन का सदुपयोग

मानव जाति की महान् और सर्वोत्तम विभूतियाँ सनातन काल से इन प्रश्नो का चिन्तन करती आई है। अगर हम उनके चिन्तन से लाभ उठा सके तो अपने आपको पहचानना कुछ भी कठिन नही है। लाभ न उठा सकें तो पहचानना वहुत कठिन है।

जब तक मनुष्य मे वहिरात्मवुद्धि विद्यमान है, वह परिवार, घरद्वार, हिरण्य - सुवर्ण आदि अनात्म भूत पदार्थों के उपभोग में ही आनन्दानुभव करता है, तव तक वास्तविक 'आत्मा' उसकी समझ मे नही आ सकता। और जिसने अपने आपको नही समझा, वह अपने जीवन की कृतार्थता को कैसे समझ सकता है ?

तथ्य यह है कि जीवन की सार्थकता किसी वस्तु की प्राप्ति मे नही, प्राप्त और प्राप्तव्य के परित्याग मे ही स्व की सप्राप्ति है। जिसने सम्पूर्ण सकल्प के साथ 'पर' से नाता त्याग दिया, उसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नही रहा।

आत्मोपलब्धि का साधन

किन्तु त्याग शब्द भी मौजूं नही है। वह पूरी तरह प्रस्तुत अर्थ का द्योतक नही है। त्याग गृहीत (प्राप्त) का होता है, मगर मनुष्य

की स्वत्व-बुद्धि तो गृहीत और अगृहीत दोनो प्रकार के पदार्थों में होती है। अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ प्राप्त है, और जो प्राप्त नही है, किन्तु जिन्हे प्राप्ति की कामना स्पर्श कर सकती है, उन सब का परित्याग ही आत्मोपलब्धि का साधन है।

त्याग का सही अर्थ

फिर भी एक बात ध्यान मे रखने योग्य है। त्याग का मतलब कही दूर फेक देना नही। बहुत-सी वस्तुओ को हम उठा कर फेंक सकते है, मगर शरीर का क्या किया जा सकता है? उसे कैसे फेका जा सकता है? ऐसी स्थिति मे त्याग का वास्तविक अर्थ है-ममत्व को हटा लेना।

चीज़ जहाँ है वही पड़ी रहे, महल अपनी जगह खड़ा रहे, परिवार अपनी जगह बना रहे, किसी वस्तु को इधर से उधर करने की आवश्यकता नही और स्वय को भी कही भागने की आवश्यकता नही, क्योंकि शरीर से भागने पर भी मन के साथ उनका सम्बन्ध बना रह सकता है। अतएव सब से बड़ा त्याग स्वत्व की भावना को हटा लेना ही है।[1]

---

[1] श्रमण संस्कृति का सन्त अपरिग्रही होता है, उसका जीवन त्याग और वैराग्य के रग से रंगा हुआ होता है, पर संयमी जीवन की साधना के लिए, रक्षा के लिए, वह अशन, वसन, भवन, पात्र, आदि वस्तुओं का उपयोग करता है पर आसक्ति से नही, अनासक्ति से, दशवैकालिक सूत्र में लिखा है:—

ज पि वत्थं च पायं वा, कम्बलं पाय पुछणं
तं पि संजम - लज्जट्ठा, धारति परिहरति य"

—अध्य० ६—गा०—२०

साधना के अभिलाषी ! तू जानता है कि—मैं बाह्य पदार्थों से दूर भाग कर त्यागी बन जाऊँगा, मगर भाग कर जाएगा कहाँ ? किस लोक में बाह्य पदार्थ नहीं है ? सिद्धशिला पर जो [illegible] सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं, वहाँ द्रव्य विद्यमान है । अतएव भाग कर त्यागी कहलाने का मनोरथ व्यर्थ है । तू जहाँ है, वहीं रह सकता है, बाह्य पदार्थ भी वहीं रहेंगे, केवल भावना को बदल डालने की आवश्यकता है । ममत्व भावना की डोरी से तूने उन्हें अपने साथ बांध रखा है, उसे काट कर फेंक दे । फिर तू तू है, वे वे हैं । वे तेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते ।

जैसे अग्नि का ताप देने पर सारी पृथ्वी नर्म मक्खन-सी हो जाती है, इसी प्रकार ममत्व त्याग देने पर सभी 'स्व' 'पर' बन जाते हैं ।

सर्वोत्कर्ष का मार्ग

[illegible] की यह साधना सर्वोत्कर्ष का मार्ग है । जिस साधक [illegible] समभाव में [illegible] सभी प्रकार के [illegible] है, वह [illegible] तक पहुँचा सकता है, [illegible] होता है । [illegible]

[illegible]

[illegible]

धर्म की रीढ़ : अहिंसा

धर्म ने मानवजाति को अनेकानेक दिव्य विभूतियाँ प्रदान की हैं, किन्तु अहिंसा उन सब मे उत्कृष्ट है। अहिंसा ही मानव की आकृति मे मानवत्व और देवत्व के प्राणो की प्रतिष्ठा करती है। कभी-कभी ध्यान आता है- मानवमन मे यदि अहिंसा की कोमल कमनीय भावना न होती तो इसकी क्या स्थिति होती ? मनुष्य ने परिवार, समाज और राष्ट्र का निर्माण किया और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किया, मगर इन सब का मूलाधार अहिंसा ही है। अहिंसा के अभाव मे परिवार समाज और राष्ट्र का अस्तित्व सुरक्षित नही रह सकते। मानवी जाति के महान् से महान् मनीषियो के अब तक के विराट् और गभीरतम चिन्तन का सर्वोत्कृष्ट सार यदि कुछ है तो वह अहिंसा ही है।

स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—

अहिंसा भूतानां जगति विदित ब्रह्म परमम्।[1]

व्यक्ति और समाज के जीवन का प्रधान अवलम्बन अहिंसा है। अहिंसा के प्राण ही उसमे स्पन्दित दिखाई देते है। श्वासोच्छ्वावास प्राण

---

[1] वृहद् स्वयभू स्तोत्र।

के अभाव मे व्यक्ति जीवित नही रह सकता, इसी प्रकार अहिंसा के प्राण के बिना भी व्यक्ति और समाज जीवित नही रह सकता।

अहिंसा आत्मा का स्वभाव है

पाश्चात्य सभ्यता की गदगी को, बिना विचार और विवेक के, शिरोधार्य करने वाले नासमझ लोग धर्म के विरुद्ध कितना ही विषवमन क्यो न करें, धर्म आत्मा मे एक-रस है। वह आत्मा का स्व-भाव है, अतएव आत्मा की तरह ही अमर है, उसकी आदि नही, अन्त भी नही। इसीलिए अहिंसा भी अमर है। वह प्राणीमात्र मे नैसर्गिक है। घोर से घोर हिंसक समझे जाने वाले प्राणी के अन्तरतर मे भी अहिंसा के किंचित् सौम्य कण विद्यमान रहते है। अगर हम विचार के लोचनो से उसके हृदय के आन्तरिक रूप को देख पाएँ तो वहाँ भी अहिंसा भगवती का परम सुन्दर स्वरूप प्रतिष्ठित मिलेगा।

हिंस्र जन्तुओ पर विचार करते ही हमारा ध्यान सर्वप्रथम सिंह की ओर आकर्षित होता है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार भी हिंस् धातु से 'सिंह' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। वास्तव मे सिंह अत्यन्त खूख्वार जानवर है और उसकी स्मृति ही साधारण मनुष्य के हृदय को प्रकम्पित कर देती है। सामना हो जाने पर तो कहना ही क्या है! बडे-बडे शूरवीरो के भी देवता कूच कर जाते है और होशहवास गायब हो जाते है। मगर क्या कभी सोचा है आपने कि उस घोर हिंस्र प्राणी के कलेजे मे भी करुणा की कोमल मूर्ति विद्यमान रहती है, जो अहिंसा का ही एक रूप है। अगर सिंह मे अहिंसा की वृत्ति न होती तो सिंहजाति इस धरातल से कभी की समाप्त हो गई होती। सद्यःप्रसूत सिंह शावक की प्राणरक्षा कौन करता है? तब वह अपनी शक्ति के बल पर जीवित नही रहता, वरन् सिंह-सिंहनी की अहिंसा—करुणा की

वृत्ति ही उसके प्राणों का सरक्षण और सपोषण करती है। इसीलिए कहता हूँ कि अहिंसा आत्मा का स्वभाव है और जो जिसका स्वभाव है, वह उससे पूरी तरह अलग नहीं हो सकता।

अहिंसा का इतिवृत्त

अहिंसा का इतिवृत्त क्या है ? वह कब इस धराधाम पर अवतरित हुई ? किस लोकोत्तर महापुरुष के मस्तिष्क मे उसने जन्म लिया ? इन प्रश्नो का कोई उत्तर नही है और न हो सकता है। पुरातन होने ही से कोई वस्तु उपादेय हो और नूतन होने से हेय हो जाय, यह हेयोपादेय की कोई कसौटी नही है। अहिंसा अगर इस युग का आविष्कार होती तो भी अपनी विशिष्टता के कारण वह उपादेय ही होती; मगर ऐसा है नही। वस्तुत. अहिंसा सनातन सत्य है और किसी भी काल में उसके अभाव की कल्पना नही की जा सकती।

मेरा अभिप्राय यह नही है कि अनादि काल से अहिंसा का एक ही रूप रहा है और युग के चिन्तन का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ा। वास्तव मे अहिंसा का स्वरूप अत्यन्त विराट् है और वह हमारे सहस्रो रोगो की एक मात्र अमोघ औषध है। इसी से अतीत में वह नाना रूपो मे मानवजाति के समक्ष प्रस्तुत हुई है और जब समाज मे जिस रोग ने अपना सिर उठाया, उसके एक विशिष्ट रूप ने उसका प्रतीकार किया है।

जैन इतिहास के वेत्ता भलीभाँति जानते है कि भगवान् अरिष्टनेमि ने, जिनका उल्लेख वेदो मे भी मिलता है, किस प्रभावशाली तरीके से हिंसा का प्रतीकार किया था ! तत्कालीन क्षत्रिय-वर्ग मे जिह्वा-लोलुपता ने अपना आसुरी स्वरूप ग्रहण कर लिया था। वे मासभक्षी हो गये थे। तब विवाह के ऐन अवसर पर अरिष्टनेमि तोरण से

वापिस लौट गये पशुओं की सहानुभूति मे। श्रीकृष्ण ने सौ-सौ वार मनुहार की, परन्तु अरिष्टनेमि के उस सत्याग्रह को वे भग न कर सके। उनके इस त्याग ने क्षत्रियो के नेत्र खोल दिये।

भगवान् पार्श्वनाथ ने अपनी कुमारावस्था मे नाग जैसे विषधर की भी रक्षा के लिए एक महान् गिने जाने वाले तपस्वी से मोर्चा लिया और अहिंसा की सूक्ष्मता की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया।

भगवान् महावीर के युग में हिंसा ने धर्म के नाम पर पुन. सिर उठाया तो भगवान् ने शक्ति के साथ उसका सामना किया और वडे-वडे याज्ञिको को अहिंसा देवी के चरणो मे झुकाया। उनके समय मे वैचारिक सघर्ष ने उग्र और भीषण रूप धारण किया था। दार्शनिक विद्वान् विद्यामद से मतवाले होकर परस्पर एक दूसरे को नीचा दिखाने मे ही अपना गौरव मानते थे और ऐसा करते हुए सत्य की हत्या करने में संकोच नही करते थे। तव त्रिशलानन्दन ने अनेकान्त के रूप मे वैचारिक अहिंसा का मधुर शखनाद किया और जगत् को एक सन्मार्ग प्रदर्शित किया।

भारत का राजशासन विदेशियो ने हथिया लिया और देश गुलाम वन गया तो गाधीजी को अहिंसा की पुरातन विरासत की स्मृति आई। उन्होने गुलामी की दीनताजनक व्याधि को दूर करने के लिए अहिंसा की रामवाण औषध का प्रयोग किया। उसका एक नया सामूहिक प्रयोग जनता के सामने आया और वह शान के साथ सफल हुआ।

आज विनोवाजी आर्थिक एव सामाजिक क्षेत्र मे फैली विषमता की वीमारी पर अहिंसा का प्रयोग कर रहे है।

अहिंसा और विश्वशान्ति

अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न युगो में, अहिंसा हमारे यहाँ विभिन्न प्रकार की कठिन समस्याओ को सुलझाने का साधन रही है और इसी से उसके नये-नये पहलू जनता के सामने आते रहे हे। वास्तव मे अहिंसा की उपयोगिता अमर्याद और शक्ति अचिन्त्य है।

इस युग मे विज्ञान के दानव ने जो भयानक हिसा के साधन प्रस्तुत किये है उन्हे देख कर विश्व के विचारशील नेता चिन्तित हो उठे हे और अहिंसात्मक उपायो से उनके प्रतीकार का विचार और प्रचार कर रहे हैं। अहिंसा के अतिरिक्त विश्वशान्ति का दूसरा कोई उपाय ही नही हो सकता।

अहिंसा और पशु जगत्

इतना सब कुछ होने पर भी यह नही कहा जा सकता कि शासनक्षेत्र मे अहिंसा का व्यापक स्वरूप समझा गया है। ऐसा लगता है कि हमारे देश के राजकर्त्ता अहिंसा को मानवजाति तक ही सीमित रखना चाहते है। मगर यह जगत् मनुष्यजाति में ही अशेष नही है। बहुत बडी दुनिया मानवेतर जीवधारियो की भी है, जिन्हे हमारी तरह वाणी प्राप्त नही है और जो अपने विराट् सगठन और यूनियन नही बना सकते और चिल्लाहट नही मचा सकते। उन दीन हीन प्राणियो के प्रति, जो हमारे ही परिवार के अविकसित और अबोध सदस्य हैं, हमारा क्या कर्त्तव्य है? जब तक हमारी करुणा की विमल धारा उन तक नही पहुँचती तब तक अहिंसा लँगडी ही रहेगी और उसमे पूरी क्षमता नही आ सकेगी। अगर हम चाहते है कि एक देश दूसरे देश के प्रति, एक वर्ग दूसरे वर्ग के प्रति और एक जाति दूसरी जाति के प्रति अहिंसक व्यवहार करे और मनुष्य का अन्त करण हिंसा के

दानवी सस्कार से छुटकारा पा ले तो हमे अपने परिवार के उन छोटे सदस्यो के प्रति भी सदय बनना पडेगा। जब तक हम मनुष्येतर प्राणियो के प्रति भी दयाशील न होगे, तब तक हृदय मे क्रूरता, कठोरता और हिंसाभावना बनी रहेगी और जब हृदय मे निर्दयता और हिसाभावना विद्यमान होगी तो उसका प्रयोग मनुष्य, मनुष्य के प्रति भी करने से नही चूकेगा। अतएव मनुष्येतर प्राणी, प्राणी होने के नाते भी करुणा के पात्र है और इसलिये भी कि इस प्रकार की करुणा के अभाव मे मनुष्य, मनुष्य के प्रति पूरी तरह करुणाशील नही बन सकता।

जिसका एक पंख काट दिया गया हो, ऐसे पक्षी से व्योम मे उडान भरने की आशा नही की जा सकती। एक टाग के बल पर मनुष्य दुरूह पथ पर चल कर अपनी दूरकी मजिल तक नही पहुँच सकता। इसी प्रकार एकागी अहिंसा भी अपने उद्देश्य को पूरा नही कर सकती—मानव के मन मे से हिसा के सस्कारो का समूल उन्मूलन नही कर सकती।

अहिसा एक जीवनव्यवहार्य सिद्धान्त है। वह वाणी विलास नही है। तथापि यह आशा नही की जा सकती कि प्रत्येक दशा मे, प्रत्येक मनुष्य उसका पूर्णरूपेण व्यवहार करेगा। मनुष्य को अहिसा के पथ पर ही चलना चाहिए और जितना संभव हो, अग्रसर होते जाना चाहिए। किन्तु हमारे चलने की एक सीमा है, अतएव अहिंसा को भी हम सीमित कर लें और उसके आगे की अहिसा को अहिसा ही न समझे, यह बुद्धिमत्ता नही। शास्त्र कहता है––

जं सक्कइ तं कीरइ,
जं च न सक्कइ तस्स सद्दहणं।

सद्दहमाणो जीओ,
पावइ अयरामरं ठाणं ।
—धर्म सग्रह

मनुष्य अपने कर्त्तव्य का, धर्म का या सिद्धान्त का जितना व्यवहार (आचरण) कर सकता हो, करे। किन्तु जिस अश का व्यवहार करना उसकी शक्ति से पर हो, उस पर भी श्रद्धा अवश्य रक्खे उसे प्राप्य माने और प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न करे। इस प्रकार श्रद्धाशील पुरुष को एक न एक दिन मुक्ति मिल जाती है।

हिंसा क्या है ?

जीवन में अहिंसा का अमल कितनी सीमा मे किया जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वास्तव मे अहिंसा क्या है और हिंसा क्या है ? साधारणतया किसी भी प्राणी को प्राणो से वियुक्त करना हिंसा समझा जाता है, परन्तु हिंसा की यह व्याख्या परिपूर्ण नही है। प्राणो का विनाश होना द्रव्यहिंसा है, मगर द्रव्यहिंसा तभी हिंसा के पाप मे परिगणित होती है, जब वह प्रमाद-कषाय से प्रेरित हो। प्रमाद-कषाय ही वास्तविक हिंसा है और जैनागम उसे भावहिंसा कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

यत्खलु कषाय योगात्, प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करण, सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।

क्रोध आदि कषायो के योग से किसी भी प्राणी के या अपने निज के प्राणो का व्यपरोपण करना निश्चित रूप से हिंसा है। और—

अप्रादुर्भाव. खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप।
—पुरुषार्थसिद्धयुपाय।

जैनागमो में हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध मे बहुत विस्तृत, विशद और गहन मीमांसा की गई है। किसी अन्य धर्म के शास्त्रों मे ऐसी मीमासा नही मिलती इसका कारण यही है कि समग्र जैनाचार का आधार अहिंसा ही है।

कृत्य और अकृत्य की कसौटी

क्या कृत्य है और क्या अकृत्य है, इसकी प्रमुख कसौटी अहिंसा ही है। सत्य भी धर्म है, अस्तेय भी उपादेय है, ब्रह्मचर्य भी आराधनीय है, पर यह सब धर्म अहिंसा धर्म की ही शाखाएँ है। कहा भी है—

आत्मपरिणामहिंसन-
हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवल-
मुदाहृतं शिष्यबोधाय।

असत्यभाषण, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह—इन सब पापो के आचरण से आत्मा के परिणामो की हिंसा होती है। अतएव भाव-हिंसा के कारण होने से ये सभी पाप हिंसा ही हैं। तथापि स्फुट रूप से समझाने के लिए और जिज्ञासु जन किसी प्रकार के भ्रम मे न पड जाएँ, इस दृष्टि से असत्यभाषण आदि की पृथक् गणना की गई है।

तात्पर्य यह है कि अहिंसा ही सम्यक् चारित्र और पापाचार का मापक दंड है। समस्त कर्त्तव्यो मे अहिंसा ही मूर्धन्य कर्त्तव्य है। अतएव आगमो मे उसकी बारीक से बारीक व्याख्या उपलब्ध होना स्वाभाविक ही है। प्रत्येक व्यक्ति मे इतनी योग्यता नही हो सकती कि वह अहिंसा विषयक समग्र श्रुत का अध्ययन और मनन कर सके। ऐसे जिज्ञासुओ के लिए आचार्य अमृतचन्द्र अहिंसाविषयक मन्थन का मक्खन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—जैनागमो में प्रतिपादित हिंसा-

अहिंसा का संक्षिप्त सार यही है कि रागादि कलुषित भावो का प्रादुर्भाव न होना अहिंसा है और कलुषित भावो की उत्पत्ति होना हिंसा है।

हिंसा और अहिंसा का विश्लेषण

वाचक उमास्वाति ने भी तत्त्वार्थसूत्र में यही कहा है—

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।'

यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि सयमी पुरुष यदि यतना के साथ, सावधान और सतर्क रहकर, किसी भी जीव के प्राणो का घात न होने देने की बुद्धि से, चार हाथ भूमि देख-देख कर चल रहा है, फिर भी यदि अचानक कोई जीव उड कर या अन्य किसी तरीके से उसके पैर से कुचल जाता है तो वह सयमी पुरुष हिंसा के पाप से लिप्त नही होता।

अभिप्राय यह है कि प्रमाद और कषाय से किया जाने वाला प्राणवध हिंसा है। इस हिंसा से बचने का उपाय प्रमाद और कषाय का परित्याग करना है। इस विवेचन से पूर्वोक्त प्रश्न का समाधान हो जाएगा कि साधक जितने-जितने अशो मे प्रमाद-कषाय से निवृत होता जाता है, उतने ही उतने अशो मे हिंसा से बचता है।

स्थूल (द्रव्य) हिंसा न करने पर भी जिसके अन्त.करण में हिंसक भावना प्रचुर है, वह प्रचुर हिंसा का भागी होता है। इस सम्बन्ध मे तन्दुल मत्स्य का सुन्दर उदाहरण प्रसिद्ध है।

तो अहिंसा का पालन करने के लिए आवश्यक है कि साधक अपने अन्त करण को स्वच्छ, पवित्र और अकलुष बनाए। अन्तकरण मे क्रोध, मान, कपट, आसक्ति, राग, द्वेष, ईर्षा आदि की कालिमा का

प्रवेश न होने दे। इतना करने पर वह अपना धर्मोपेत जीवन व्यवहार चलाता हुआ भी अहिंसा की साधना कर सकता है।

भ्रान्तधारणाओं का निराकरण

अहिंसा के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ सुनने को मिलती है। कुछ लोग समझते हैं कि यह पृथ्वी सिर्फ हमारे लिए अर्थात् मनुष्यजाति के लिए ही है। हमारा ही इस पर एकाधिपत्य है। अन्य प्राणियो को इस पर रहने और जीवननिर्वाह करने का अधिकार नही। इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर वे वन्य पशुओ का, कुत्तो का, वन्दरो का, हिरणो का और दूसरे जीवो का वध करते हैं, करवाते है या किये जाने वाले वध का समर्थन करते है। मगर निष्पक्ष विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह विचारधारा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' इस पुरानी लोकोक्ति को चरितार्थ करती है। यह स्वार्थी विचार जंगलीपन का निशान है। इसमे न्याय अथवा औचित्य के लिए कोई अवकाश नही है। किसने धरती का पट्टा मनुष्य के लिए लिख दिया है? वास्तव में जो भी जीवधारी इस धरती पर जन्मा है, उसे इस पर रहने का और उससे पोषण प्राप्त करने का अधिकार है। सिर्फ इस कारण कि मनुष्य में, इतर जीवो की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य है, वह दूसरो के जन्मजात अधिकारो को नही छीन सकता। वह छीनता है तो प्रकृति उसे समुचित दड दिये विना नही रहती।

इस प्रकार की संकीर्ण और स्वार्थमय भावना का दड मनुष्य जाति को किस प्रकार भुगतना पडता है, यह जानने के लिए तपस्या करने की आवश्यकता नही। यह भावना वढते-वढ़ते मनुष्य-मनुष्य मे भी इसी प्रकार की धारणा उत्पन्न किये विना नही रहती। शासक वर्ग समझता है कि पृथ्वी उसकी वपौती है और शासितो को जीवित रहने का अधिकार नहीं। अगर वे जीवित रहे तो हमारी सुख-सुविधा के ही

लिए जीएँ। इस प्रकार की समझ के कारण अतीत मे मनुष्य ने मनुष्य के साथ भीषण और लोमहर्षक अत्याचार किये हैं और उन अत्याचारो की आज भी इति नही हो पाई है।

दुर्वृत्ति का उद्गम कहाँ से ?

प्रश्न यह है कि आखिर मनुष्य मे इस वृत्ति का उद्गम हुआ कहाँ से ? विचार से विदित होता है कि इस दुर्वृत्ति का वीज मनुष्येतर प्राणियो के अधिकारो की अस्वीकृति मे ही छिपा है। जव तक मनुष्य, मनुष्येतर प्राणियो के प्रति न्याय नही करेगा, मनुष्य के प्रति भी न्याय नही कर सकता।

अहिंसा का उपासक इस प्रकार की अनैतिक एवं अधार्मिक वृत्ति को न अपने हृदय मे स्थान दे सकता है, न इसका समर्थन ही कर सकता है।

लोग कहते है—सिंह, व्याघ्र और सर्प जैसे हिंस्र प्राणियो का वध करना अनुचित नही है, क्योंकि उनसे हमे खतरा है। मगर वे प्राणी भी यही कह सकते है। उन्हे भी मनुष्य से खतरा है। हिंस्र प्राणियो से मनुष्य को जितना खतरा हो सकता है, उसकी अपेक्षा उन्हे मनुष्य से कही वहुत अधिक खतरा होता है। मनुष्य के पास हिंसा के साधन शास्त्र—हैं और वह दूर से भी उन पर प्रहार करता है। दल वना कर भी उनके प्राण लूटता है। वेचारे पशु इस प्रकार के आयोजन नही कर सकते।

आत्मवत् सर्वभूतेषु

अहिंसा के सम्बन्ध मे इसी प्रकार की अन्यान्य भ्रमणाएँ भी फैली हुई है। मगर उन सव से मुक्ति पाने का और सही स्वरूप समझने

का सरल उपाय है—आत्म-साक्षी। ज्ञानियो ने हिंसा-अहिंसा का निर्णय करने के लिए एक अभ्रान्त कसौटी हमें पकड़ा दी है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु।' दूसरो द्वारा किये जाने वाले जिस व्यवहार को तुम अपने लिए उचित नही समझते, वह व्यवहार दूसरो के प्रति करना भी अनुचित है। दूसरो के अपने प्रति किये गये जिस कार्य से तुम्हे पीडा पहुँचती है, समझ लो वैसा तुम्हारा कार्य भी दूसरो को पीडा पहुँचाता है। इस प्रकार शुद्ध बुद्धि से, न्यायपूर्ण विचार करने पर, स्वतः हिंसा-अहिंसा का भेद समझ में आ जाता है।

प्राचीन काल में हिंसा के साधन आज की भाँति शक्तिशाली और दूर-दूर तक व्यापक प्रभाव डालने वाले नही थे। आज जब ऐसे अगणित साधन निर्मित हो चुके है और हिंसा अत्यन्त शक्ति-शाली बन गई है, तब उसका प्रतीकार करने के लिए अहिंसा को भी अत्यधिक समक्ष बनाने की आवश्यकता है। इसी कारण अहिंसा के पक्ष में भी जोरदार आवाज उठने लगी है। अहिंसा के भक्तो और अनुयायियो को चाहिए कि अहिंसक वातावरण के निर्माण मे पूर्णरूपेण सहयोग दें।

साधना का मूलस्रोत : सत्य

'सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ
मेहावी मारं तरइ ।' —आचारांग.

सम्पूर्ण जैनवाङ्मय चार भागो मे विभक्त है, जिसमे चरणानुयोग भी एक है। इस विभाग में जैन साधु और श्रावक के आचार का वर्णन है और यह काफी वृहत् है। किन्तु यदि गहराई से विचार किया जाय तो समग्र आचार का मूल पाँच व्रत ही है, उनमे से अहिंसा के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। यहाँ दूसरे व्रत के विषय मे, संक्षेप मे विचार करना प्रस्तुत है।

आत्मा अनादिनिधन तत्त्व है, क्योकि वह सत् है। सत् की सत्ता सदैव अक्षुण्य रहती है। सत् पदार्थ कभी नही था या कभी न रहेगा, यह नही कहा जा सकता। यद्यपि प्रत्येक प्राणी का वर्त्तमान जीवन परिमित है, तथापि इस व्यक्त एव स्थूल जीवन के साथ आत्मा का अन्त नही होता। इस आत्मा ने अनन्त-अनन्त जीवन अतीत काल में ग्रहण किये और त्यागे हैं। जैसे आकाश असीम और अपार है, इसी प्रकार काल भी अनन्त है। अनन्त अतीत काल के चित्रपट पर आत्मा सर्वदा अभिनय करता रहा है और इस अभिनय में इसने असख्य रूप धारण किये है।

जिह्वा का महत्त्व

आपको विदित है कि ससारी जीव षट् निकायो मे विभक्त हैं, जिनमें पाँच निकाय स्थावरो-एकेन्द्रियो के और एक निकाय त्रसजीवो का है। इन पाच निकायो मे अर्थात् पृथ्वीकाय, जल-काय, तेजस्काय वायुकाय और वनस्पतिकाय मे जीव की दशा इतनी अधम होती है कि उसे वाणी की शक्ति भी प्राप्त नही होती। एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय ही उन्हे प्राप्त होती है और वही उनके जीवनव्यवहार का साधन होती है।

जीव जब एकेन्द्रिय अवस्था मे पहुँचता है तो आवश्यक नही कि शीघ्र ही छुटकारा मिल जाए। शास्त्रकार कहते हैं, अनन्त-अनन्त जीव ऐसे भी मिलेगे जिन्हे अब तक एक बार भी त्रस-अवस्था प्राप्त नही हुई है और वे अभागे जीव जिह्वा-इन्द्रिय नही प्राप्त कर सके हैं। जो त्रसपर्याय प्राप्त कर लेने के पश्चात् पुनः स्थावरपर्याय मे जा पहुँचते हैं, उन्हे भी एक-एक निकाय मे पुनःपुनः जन्म-मरण करते-करते असख्य काल व्यतीत हो जाता है। वनस्पतिकाय मे तो अनन्त काल तक व्यतीत हो सकता है।

दलदल मे फँसे मनुष्य का उद्धार होना अत्यन्त कठिन है, मगर एकेन्द्रिय-अवस्था मे पडे प्राणी का उद्धार और भी कठिन है। महान् पुण्ययोग से जीव द्वीन्द्रिय-अवस्था प्राप्त कर पाता है और तब उसे वाचाशक्ति प्राप्त होती है। कितना कठिन है जिह्वा-इन्द्रिय को प्राप्त कर लेना।

किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, यहाँ तक कि असज्ञी पचेन्द्रिय तक की स्थिति मे, जिह्वा विद्यमान होने पर भी, व्यक्त वाणी का प्रयोग करने की क्षमता नही होती है। सज्ञी पचेन्द्रियो में भी पशु-पक्षी जैसे तिर्यंच व्यक्त वाणी का प्रयोग नही कर सकते।

इस लोक मे केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो सोच-समझ कर व्यक्त वाणी का उच्चारण कर सकता है।

विस्तार के लिए अवकाश नही है, मगर आप गहराई से सोचें तो समझ सकेगे कि यह जिह्वा और यह व्यक्त वाणी के प्रयोग की क्षमता कितनी दुर्लभ है।

लोग हिरण्य, सुवर्ण और चन्द चान्दी के टुकडो को ही सब से बडी पूजी मानते हैं, मगर यह नही सोचते कि पुण्य की पूजी पल्ले मे न हो तो पल्ले का धन भी कपूर की तरह उड जाता है और पता भी यही चलता कि कब और कैसे चला गया ! किन्तु जिसने पुण्य की पूजी को समझा है, वह जानता है कि कितनी बडी पूजी व्यय करने पर जिह्वेन्द्रिय और व्यक्त वाणी प्राप्त हुई।

इस प्रकार जो साधन अत्यन्त दुर्लभ है, बहुमूल्य है और जो तीव्र पुण्य के बदले में मिला है, उसका उपयोग बड़ी सावधानी के साथ करना चाहिए। जीभ मांस का टुकडा मात्र नही है, वह हृदयगत भावनाओ को व्यक्त करने का और दूसरो के मनोगत विचारो को अवगत करने का असाधारण और सर्वोत्तम साधन है। शरीर मे यह टुकड़ा न होता तो मनुष्य कितना अक्षम और असमर्थ होता ! इस तरह जिह्वा के महत्त्व का विचार करना चाहिए और प्रमाद या कषाय के अधीन होकर जिह्वा का दुरुपयोग नही करना चाहिए।

जिह्वा के दो कार्य :

मुख्य रूप से जिह्वा के दो कार्य हैं रस का अनुभव करना और वाणी का उच्चारण करना। इन्ही दो कार्यो में उसका दुरुपयोग और सदुपयोग किया जा सकता है। किन्तु सत्य के इस प्रसंग मे हमें वाणी सम्बन्धी उपयोग पर ही विचार करना है।

असत्य वचन बोलना जिह्वा का दुरुपयोग है और सत्य वचन का प्रयोग करना सदुपयोग है ।

सत्य का विश्लेषण :

वाचक उमास्वाति कहते हैं—'असदभिधानमनृतम् ।' जो वचन असत् है अर्थात् अप्रशस्त है और अयथार्थ है, वह असत्य है । जो वस्तु अथवा घटना जैसी है, उसे वैसी ही न कह-कर अन्यथा कहना असत्य है । असत्य का यह रूप सर्वसाधारण में प्रचलित है । किन्तु यह भी समझना चाहिए कि यथार्थ होने पर भी जो वचन अप्रशस्त है, किसी के पक्ष मे अहितकर है, अनर्थकारी है, जिससे किसी को पीड़ा होती है या हानि पहुँचती है, वह भी असत्य ही है ।

अहिंसा के विवेचन में बतलाया जा चुका है कि सत्य अस्तेय आदि वस्तुत अहिंसा के ही विराट् रूप है । अतएव वे अहिंसा से निरपेक्ष नही हो सकते । ऐसी स्थिति मे जो वचन हिंसा-जनक है, वे चाहे यथार्थ—तथ्य भले हो, फिर भी असत्य मे ही परिगणित होते है । अतएव सत्य की सरल और संक्षिप्त व्याख्या यही है कि जो वचन अहिंसा के पोषक हो या अहिंसा के विरोधी न हो, वे सत्य है और जो इससे प्रतिकूल हो, वे असत्य है ।

सत्य की महिमा

सत्य सर्वमान्य धर्म है । ससार के समस्त धर्मो, पथो और म पुरुषो ने सत्य की सराहना करके अपनी वाणी को धन्य माना है । ज त् के व्यवहार सत्य के सहारे ही चल रहे है । सत्य की प्रशंसा क ते हुए एक विद्वान् कहते हैं कि—

> सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रवि. ।
> सत्येन वायवो वान्ति, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।

यह समग्र पृथ्वी सत्य पर टिकी है। सत्य के प्रभाव से ही सूर्य तप रहा है। वायु का संचरण सत्य की प्रेरणा का ही फल है। कहाँ तक सत्य की महिमा का बखान किया जाय, सत्य यह है कि सभी कुछ सत्य मे ही प्रतिष्ठित है।

सत्य की आराधना से पुरुष प्रतीति का पात्र बनता है। सत्य की जाज्वल्यमान ज्वालाओ में समस्त विपत्तियाँ दग्ध हो जाती है। समस्त सम्पत्तियाँ सत्य की सलोनी छाया मे निवास करती है। सत्य वह वशीकरण मंत्र है, जिसके अद्भुत प्रभाव से मनुष्य मात्र ही नही, देवता भी वफादार दास की तरह वशीभूत हो जाते है और मनोवाछित कार्य को सम्पन्न करते है। जिसका मन, वचन और काय सत्य की सेवा मे समर्पित हो जाता है, ससार की कोई भी शक्ति उसका कुछ भी अनिष्ट नही कर सकती। वह अथाह जल मे से सकुशल वाहर आता है या अथाह जल छिछला बन जाता है। अग्नि उसे जला नही सकती। सीता सत्य की सहायता से ही अग्निकुण्ड मे से सहीसलामत जीवित निकल सकी थी। सत्यवादी हिंसक और विषैले जीव-जतुओ के हृदय मे भी एक वार ऐसी सात्विक भावना उत्पन्न कर देता है कि वे भी उसे क्षति नही पहुँचा सकते।

सत्य मे समस्त मगलो का निवास है। सत्य के आधार पर ही सौजन्य का टिकाव होता है। सैकडो दूसरे गुण होने पर भी जिसमें सत्यभाषण का सद्गुण नही होता, उसे लोग घृणा और हिकारत की नजर से देखते है और उसकी साधारण वात पर भी विश्वास नही करते। सत्यवादी के सुयश का सौरभ अनायास ही दिगदिगत मे व्याप्त हो जाता है। उसका प्रभाव अप्रतिहत होता है और सत्य की पावनी शक्ति से समग्र जीवन पवित्र वन जाता है।

घोर से घोर पापी भी पाप का आचरण करके उसे छिपाने का प्रयास करता है और उसे छिपाने का प्रधान साधन असत्यभाषण होता

है। वस्तुतः असत्यभाषण पापो का प्रच्छादन है। अगर यह प्रच्छादन हट जाता है तो मनुष्य पापाचार से डरता है। अतएव सत्य मे पापो से बचाने की अपूर्व क्षमता है। इसके विपरीत, असत्यभाषी क्रमशः पापो के गड्ढे में नीचे ही नीचे गिरता जाता है। एक बार के असत्याचरण पर पर्दा डालने के लिए उसे अनेक असत्यो का सेवन करना पडता है और वह असत्य के जाल मे ऐसी बुरी तरह फँस जाता है कि निकलना कठिन होता है।

जैनशास्त्र सत्य की असीम महिमा प्रकट करते हुए उसे भगवान् का पद प्रदान करते है।

इस प्रकार सत्य के महत्त्व को हृदयगम करते हुए जो मनुष्य सत्य को सर्वोपरि मान कर अपने जीवन मे स्थान देता है, वही वास्तव मे धर्मनिष्ठ होता है। मगर सत्य का आचरण करने के भी कुछ नियम हैं, जिसमे से कुछ का उल्लेख यो किया गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
नासत्यं न प्रियं ब्रूयात्, एष धर्मः सनातनः।

सत्य शिवं सुन्दरम्

मनुष्य को सत्य भाषण करना चाहिए, मगर वह सत्य प्रिय भी होना चाहिए, अप्रिय नही। सत्यता के साथ प्रियता का समन्वय अवश्य होना चाहिए; क्योकि जो वचन अप्रिय है वह सत्य होने पर भी बोलने योग्य नही है। अधे को अधा कहना सत्य है, किन्तु अप्रिय-व्यथाजनक होने के कारण, वह असत्य की ही कोटि में समाविष्ट है।

मगर जो अपने आप मे असत्य है, वह प्रिय होने पर भी भाषणीय नही है। तात्पर्य यह है कि जहाँ सत्यता और प्रियता का समन्वय न हो सकता हो, वहाँ मौन धारण करना ही योग्य है।

जीवन मे कभी ऐसी परिस्थिति भी आ सकती है, जब सत्यता और प्रियता का समन्वय असाध्य हो और मौन रहना भी अनर्थजनक प्रतीत होता हो। ऐसी परिस्थिति मे क्या कर्त्तव्य है ? मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी निर्मल चित्तवृत्ति से, शुद्ध बुद्धि से, अहिसा भगवती को समक्ष रख कर, विवेकपूर्वक निर्णय करे और जो कुछ करने से अहिसा का संरक्षण होता हो, वही करे। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि सत्य, अहिसा का ही अग है, अतएव जिस वाणी से अहिसा का विरोध होगा, वह सत्य नही होगा।

सत्यमेव जयते

साधक को पल भर भी भूलना नही चाहिए कि असत्य का परिणाम इह-परभव में अतीव भीषण होता है। ज्ञानी कहते हैं—

मूकता मतिवैकल्यं, मूर्खता बोधविच्युतिः।
बाधिर्यं मुखरोगित्व - मसत्यादेव देहिनाम्।

मनुष्यजन्म पाकर भी कितनेक गूंगे होते है, कोई बुद्धिविहीन होते हैं, कोई मूर्ख होते है, कोई विस्मरण शील होते है, कोई बधिर होते है, किसी-किसी के मुख मे रोग होते है, यह सब असत्यभाषण के ही परिणाम हैं। अतएव इन दुष्फलो से बचने के लिए असत्य से बचना चाहिए। कदाचित् असत्यभाषण से कोई तात्कालिक लाभ दृष्टिगोचर होता हो तो भी उस प्रलोभन को जीतना चाहिए और समझना चाहिए कि अन्तत. असत्य का विपाक कटुक ही होता है। जैसे गरल का सेवन कभी हितकर नही हो सकता, उसी प्रकार असत्य के सेवन से भी हित नही हो सकता। 'सत्यमेव जयते, नानृतम्।' अन्तिम विजय सत्य की ही होगी, असत्य की नही।

अस्तेय का विराट रूप

लोभाविले आययइ अदत्तं ।

— चोरी वही करता है जो लोभी है ।

पूर्वोक्त पाँच व्रतो में तीसरा व्रत अस्तेय है । अस्तेय को अदत्तादान विरति और अचौर्य भी कहते है । अस्तेय का सामान्य अर्थ है—चौर्यकर्म न करना अथवा जिस वस्तु का जो स्वामी है, उसकी आज्ञा के विना उस वस्तु को ग्रहण न करना—न अपनाना ।

अस्तेय की आवश्यकता

अहिंसा और सत्य व्रतो की रक्षा के लिए इस व्रत की अनिवार्य आवश्यकता है; क्योकि चोरी करने वाला हिंसक और असत्यभाषी होता है। जो व्यक्ति किसी के द्रव्य का अपहरण करता है, वह निःसन्देह उसे व्यथा पहुँचाता ही है । इस व्यावहारिक तथ्य को आप सहज ही समझ सकते है ।

मनुष्य अपनी धन-दौलत को प्राणो के समान प्रिय समझते है । जान की जोखिम उठाकर धनार्जन करते है और उसका सरक्षण भी करते है । ऐसी स्थिति में वल से, छल से या किसी अन्य प्रयोग से यदि धन अपहृत कर लिया जाय तो धनवान् के चित्त मे दारुण व्यथा उत्पन्न होती है—

चित्तमेव मतं सूत्रे, प्राणा बाह्याः शरीरिणाम् ।
तस्मापहारमात्रेण, स्युस्ते प्रागेव घातिताः ।

वित्त मनुष्य का वाह्य प्राण है और जो उसका अपहरण करता है, वह मानो उसके प्राणो का घात करता है।

इस प्रकार चोरी मे हिंसा का दोष स्पष्ट है। चोर असत्यभाषण से भी नही बच सकता। कौन व्यक्ति ऐसा है जो चोरी करके कह सके कि– 'मैने तेरी वस्तु चुराई है।' और जो इतना प्रामाणिक होगा, जिसमे ऐसा साहस होगा, वह चौर्यवृत्ति अगीकार ही नही करेगा। अतएव हिंसा और असत्य की जननी चोरी सत्पुरुषो के लिए एकान्ततः त्याज्य है। इसी अभिप्राय से अहिंसा और सत्य के पश्चात् इसे तीसरा स्थान दिया गया है।

अस्तेय व्रत का दायरा उसके सामान्य अर्थ तक सीमित नही है। विचार करने और शास्त्रो का गभीर भाव से अध्ययन करने पर विदित होगा कि उसमें भी विशाल आशय निहित है और चौर्य की जो अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ है, उन सब का परित्याग करना अस्तेयव्रत के अन्तर्गत है। शास्त्रकार कहते है—

पतितं विस्मृतं नष्ट, स्थितं स्थापितमाहितम्।
अदत्तं नाददीत स्व, परकीय क्वचित्सुधी ॥

— योगशास्त्र.

प्रशस्तबुद्धि पुरुप परकीय द्रव्य को, चाहे वह रास्ते मे गिर गया हो, कही रखने के पश्चात् विस्मृत हो गया हो, गुम गया हो, घर में रक्खा हो, धरोहर के रूप मे रक्खा गया हो अथवा गाड़ कर छिपाया हो, अदत्त ग्रहण नही करता।

प्रामाणिकता की पुकार

आज बहुत से लोग ऐसे है, जो राह चलते गिरी हुई किसी की बहुमूल्य वस्तु को निस्सकोच उठा लेते है और उसे चोरी नही समझते।

किन्तु ऐसा करना अधर्म ही नही, अनैतिकता भी है। प्रामाणिक पुरुष कदापि ऐसा व्यवहार नही करते। उन्हे इस प्रकार किसी की कोई वस्तु मिल जाती है तो वे उसके वास्तविक स्वामी की खोज करते है और उसके समीप पहुँचा देने का प्रयत्न करते है। पश्चिम के देशो में इस प्रकार की प्रामाणिकता प्रचुरता के साथ सुनी जाती है, मगर खेद है कि इस देश मे, जो धर्मभूमि माना जाता है, अधिकाश जन इस प्रामाणिकता से भी हीन है।

चोरी महान् पाप है

धरोहर को हडप जाने की घोर विश्वासघातपूर्ण घटनाएँ किसने नही सुनी होगी ? कोई वृद्धा या विधवा अथवा असमर्थ पुरुष अपने प्राणो के समान प्रिय पू जी का जब स्वयं संरक्षण नही कर सकता तो दूसरे को प्रामाणिक समझ कर उसकी रक्षा का भार सौपता है। मगर जब रक्षक ही उसका भक्षक बन जाता है और उस धरोहर को हडप जाता है तो उस गरीब को कितनी मार्मिक पीड़ा होती होगी, यह कल्पना का विषय है। धरोहर को हड़पना जीवन के आधार को निर्दयतापूर्वक नष्ट कर देना है। प्राणो का अपहरण करना भी कदाचित् इतना पीडाप्रद नही। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने यथार्थ ही कहा है—

एकस्यैकक्षणं दु:खं, मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने ॥

किसी मनुष्य का वध किया जाता है तो उसे थोड़ी-सी देर के लिए व्यथा का अनुभव होता है और उसके सिवाय दूसरे को उस व्यथा का अनुभव नही होता; किन्तु जब किसी के जीवनाधारभूत धन का अपहरण किया जाता है तब उसे थोड़ी-सी देर के लिए नही, वरन् जीवन पर्यन्त के लिए घोर दु:ख होता है। धनापहार की वह व्यथा उसके

कलेजे में सदैव काँटे की तरह सालती रहती है और न केवल उसी को, किन्तु उसके पुत्रो और पौत्रो को भी उस व्यथा का भागी बनना पडता है। इस दृष्टि से देखने पर चोरी का पाप कभी-कभी प्राणवध रूप हिसा को भी मात कर देता है।

मानवता का भीषण कलंक

वास्तव मे अदत्तादान धार्मिक, नैतिक और सामाजिक दृष्टि से अतीव गर्हित और अधम कृत्य है। चोरी द्वारा अर्थ को ग्रहण करना वस्तुत. अनर्थ को गले लगाना है, क्योकि अदत्त अर्थ इस जन्म मे और आगामी जन्म मे भी अनेकानेक अनर्थों का कारण बनता है। चोरी के फलस्वरूप मनुष्य को दुर्भाग्य का भाजन बनना पडता है। दूसरो का किंकर-चाकर-दास बन कर अपनी ज़िन्दगी बेच देनी पड़ती है।

'पाप छिपाये ना छिपे' इस उक्ति के अनुसार हजार प्रयत्न करने पर भी आखिर चोर को जनता पहचान ही लेती है और उसे नफरत की निगाह से देखती है। उसे कही सन्मान नही मिलता, प्रत्नुत अपमान एव तिरस्कार के विषैले घूँट पीने पडते है।

परकीय धन को, चोरी करके अपने अधिकार मे कर लेने वाला चोर क्या सुखी बन जाता है ? सुख की अनुभूति भीति और व्याकुलता की स्थिति में नही हो सकती और चोर के अन्त.करण मे सतत भीति बनी रहती है। उसका दिल सदैव व्याकुल रहता है। अतएव वह सुख तो पा नही सकता, दु.खो के बोझ से दवा रहता है।

खेद की बात है कि चोरी की व्यापक एवं स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध होने पर भी और उसके दुष्परिणामो से परिचित होकर भी आज जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे यह पाप व्याप रहा है या तो उसे लोग घोर पाप नही मानते या पाप मान करके भी उससे बचने का प्रयत्न नही करते।

शासकीय क्षेत्र में

शासकीय क्षेत्र मे चोरी की बीमारी दिनो दिन बढती जा रही है। इस क्षेत्र मे उसको 'रिश्वत' या 'घूस' की सज्ञा प्रदान की गई है। जनता मे इस चोरी की आम चर्चा है और समाचार पत्र इसके विरोध मे अपना स्वर ऊँचा कर रहे है; मगर जान पड़ता है असर किंचित् भी नही हो रहा है। जनता के राज्य (प्रजातत्र) के कर्मचारी निर्लज्जता के साथ रिश्वत लेते है और रिश्वतखोरी की कटुक आलोचना करने वाले भी अवसर आने पर स्वयं रिश्वत दे देते है। स्वार्थान्ध होकर जो इस राष्ट्रीय और सामाजिक पाप में सहयोगी होते है, वे देश और समाज के शत्रु है। यदि प्रजाजन अपने क्षुद्र वैयक्तिक लाभ को सर्वोपरि न मान कर देश मे फैली इस अनैतिकता का डट कर सामना करें तो घूस लेने वालो की बुद्धि ठिकाने आ जाए। मगर उनमें कदाचित् इतना साहस नही, धैर्य नही और नैतिकता के प्रति उच्चकोटि का सम्मान भाव भी नही है। इसी कारण यह दुतरफा दुश्चक्र अप्रतिहत गति से चल रहा है। मगर जो देश ससार मे नीति और धर्म की दृष्टि से, सभ्यता, ज्ञान और अध्यात्म के लिहाज से सर्वोपरि कहलाता है, उस देश के प्रजाजीवन की यह दुर्बलता निस्सन्देह सतापजनक है।

व्यापारिक क्षेत्र में

जब व्यापारिक क्षेत्र पर दृष्टि डालते है तब भी निराशा की सीमा नही रहती। पुरातन काल के व्यापारीवर्ग के साथ आज के व्यापारीवर्ग की तुलना करने पर धरती-आकाश का सा अन्तर दिखाई देता है। कैसी हीन मनोदशा बन गई है आज के व्यापारी की! मिलावट के कारण लोगो को शुद्ध वस्तु मिलना कठिन हो गया है। मिलावट करना स्पष्ट चोरी है। अपने लिए अधिक तोल लेना और दूसरो को कम

तोल देना भी चोरी है। बढिया वस्तु दिखला कर घटिया दे देना भी चोरी है। और हिसाब मे गडबडी करके अधिक ले लेना भी चोरी है। काला बाजार करना भी चोरी है। शासन का उचित देय न देना अर्थात् कर ईमानदारी से न चुकाना भी चोरी है। निषिद्ध वस्तुओ को शासन द्वारा निर्धारित सीमा से बाहर ले जाना या बाहर से लाना भी चोरी है। चोरी का माल खरीदना भी चोरी है। और आज इन सब चोरियो का बाजार गर्म है! व्यापारी की प्रतिष्ठा समाप्त हो रही है और पारस्परिक अविश्वास बढता जा रहा है।

साहित्यिक क्षेत्र में

साहित्य समाज का मस्तिष्क है और साहित्य-निर्माताओ से यह अपेक्षा रक्खी जाती है कि उनके आचार मे उच्चता, पवित्रता और संयमन हो, जिससे उनके विचार भी दिव्य, भव्य और प्रभावशाली हो सकें। मगर यह क्षेत्र भी चोरी के पाप से अछूता नही बचा है।

कोई लेखक जब दूसरो की कृतियो के अंशो को इधर-उधर से लेकर इकठ्ठा कर लेता है और अपने नाम से उन्हे प्रसिद्ध करता है, तब वह साहित्यिक चोरी के पाप का भागी होता है। पूरी की पूरी परकीय रचना को अपनी रचना के रूप में प्रसिद्ध करना तो चोरी है ही।

जब कोई लेखक किसी विषय पर ग्रन्थ अथवा निबन्ध आदि लिखने का सकल्प करे तो उचित है कि वह तद्विषयक साहित्य का अध्ययन कर ले। नवीन साहित्यकारो के लिए तो ऐसा करना अत्यावश्यक है। परन्तु ऐसा करते समय प्रामाणिकता रक्खी जानी चाहिए। रचना का जो अंश जिस लेखक का ग्रहण किया है, उसका निर्देश करना चाहिए। इसमें प्रतिष्ठाभग की आशंका नही करनी चाहिए,

क्योंकि प्रत्येक विचारक अपने पूर्ववर्त्ती विचारकों से लाभ उठाता है। मगर उनकी वस्तु को ही अपनी बना लेना अपराध है और यह चोरी में सम्मिलित है।

साधक का कर्त्तव्य

धार्मिक एव नैतिक नियमो का दृढता के साथ अनुसरण करके ही जीवन को साधनामय बनाया जा सकता है। अतएव साधक के लिए अनिवार्य है कि वह सभी प्रकार की चोरी के पाप से बचे। शास्त्र तो यहाँ तक सावधान रहने की सूचना करते है कि अगर कोई तपस्वी बहुश्रुत अथवा उत्कृष्टाचार सम्पन्न नही है और दूसरा कोई उसे इस रूप मे कहता है तो साधक को निःसकोच उसका विरोध करना चाहिए और कहना चाहिए कि मै तपस्वी नही हूँ, बहुश्रुत नही हूँ, उत्कृष्टाचारी नही हूँ। ऐसा न करके मौन रह जाना और मिलती हुई सस्ती प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेना भी चोरी के अन्तर्गत है। इस प्रकार सूक्ष्म चोरी से बचने की सतर्कता रखने वाला साधक ही अपने जीवन को पवित्र और उच्च बना सकता है और अपने उदाहरण से अनेको के जीवन को राह दिखा सकता है।

ब्रह्मचर्य की शक्ति

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं।

—सूत्र कृतांग

आर्यावर्त के महान् मनीषी महर्षियो ने आत्मतत्त्व की गवेषणा करके उसकी शुद्धि के लिए विविध प्रकार के साधना मार्ग प्ररूपित किये है। उनमे तपश्चरण एक प्रधान मार्ग है। जैनागमो मे तपश्चरण का जो विस्तृत वर्णन है, उसे देखते हुए और तपश्चरण का जो व्यापक आन्तरिक और वाह्य स्वरूप दिखलाया गया है, उस पर दृष्टि रखते हुए निस्सन्देह कहा जा सकता है कि साधक का जीवन जव तक तपोमय नही बनता तव तक आत्म शुद्धि का सकल्प कितना ही सवल हो, सफल नही हो सकता।

आत्मशुद्धि और तप

जैसे सोडा–सावुन से वस्त्र निखर जाता है, उसी प्रकार तपस्या से आत्मा का समग्र मैल धुल जाता है और निशुद्ध एव स्वाभाविक स्वरूप चमक उठता है। आग मे पड़कर स्वर्ण निर्मल हो जाता है और तपस्या की अग्नि मे आत्मा का समग्र मल भस्म हो जाता है और आत्मा अपने सहज स्वरूप मे देदीप्यमान हो उठता है। अतीत मे जो भी साधक महान् वने हैं, तपस्या की वदौलत ही! तपश्चरण

के लोकोत्तर प्रभाव ने ही उन्हे महत्ता और उच्चता प्रदान की है, वे स्मरणीय, वन्दनीय और आदरणीय बने है। वस्तुतः इस जगत मे कोइ ऐसा महत्त्वपूर्ण सकल्प नही, जो तपस्या से साध्य न हो –

यद् दूर यद् दुराराध्यं, यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्।

जो वस्तु बहुत दूर की जान पडती है, जिसकी आराधना करना बहुत कठिन है, जो इतनी ऊँचाई पर है कि हमारे बल-बूते की नही मालूम होती, वह तपश्चरण के द्वारा सहज ही साध्य बन जाती है। सक्षिप्त मे कहा जा सकता है कि तपस्या के लिए कुछ भी असाध्य नही है। तप प्रभाव को कु ठित और अकिंचित्कार करने की शक्ति किसी मे नही है। तपस्या का प्रभाव अप्रतिहत और अप्रतिरुद्ध है तपस्या प्रबल से प्रबल विघ्नो को चुटकियो मे नष्ट कर देती है। देवो-दानवो को भी आज्ञाकारी दास बना लेती है मन और इन्द्रियो की उच्छृंखलता को दूर कर उन्हे नियन्त्रित करती है और दुर्वासनाओ की जडे उखाड फैंकती है।

तप का मूलाधार

किन्तु तपस्या का मूलाधार-प्राण ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य तपश्चरण मे जीवन का सचार करता है। ब्रह्मचर्य विहीन कठिन से कठिन तपश्चर्या भी निर्जीव और निष्फल है। ब्रह्मचर्य की महत्ता से ही तपस्या महान् बनी है। इसी कारण सूत्र कृताग सूत्र मे शास्त्रकार महर्षि कहते है–'ब्रह्मचर्य सब तपो मे उत्तम है।'[1]

सर्वविदित है कि सबल तन मे ही सबल मन का निवास सभव है। मगर तन की सबलता का अर्थ उसकी स्थूलता या निरंकुशता नही, वरन् सवीर्यता है। वीर्य प्राण शक्ति है और उसके कारण ही

[1] तवेसु उत्तम बंभचेरं सू. १।६।२३

शरीर प्राणवान्-सबल बनता है अतएव वीर्यरक्षा ब्रह्मचर्य की पहली भूमिका या शर्त है। यथार्थ ही कहा है—

मरणं बिन्दुपातेन, जीवन बिन्दुधारणात्।

प्राचीन परम्परा

प्राचीन काल की भारतीय समाज व्यवस्था मे जीवन चार विभागो मे विभक्त किया गया था और प्रथम विभाग मे अर्थात् जीवन के प्राथमिक चतुर्थ भाग मे बालक ब्रह्मचर्याश्रम मे निवास किया करते थे। परिवार और समाज के विलास-मय वातावरण मे दूर, शान्त एकान्त तपोवन मे रह कर विविध कलाओ और विद्याओ का अध्ययन करते थे और ब्रह्मचर्य की साधना करते हुए अपने जीवन का सुनिर्माण करते थे। किन्तु काल ने उस प्रणाली को निगल लिया और उसके फलस्वरूप आज समाज की दयनीय दशा हो रही है।[1] आज कहाँ दृष्टिगोचर होती है वह तेजस्विता ! कहाँ है वह ओजस्विता ! गुलाब के फूल से खिले हुए चेहरे आज कितने देखने को मिलते है ! जिस ओर दृष्टि डालते है, धँसी हुई आखें, पिचके हुए गाल, फीका चेहरा, निस्तेज शरीर और मुर्दारपन ही प्राय. देखने को मिलता है ! उठते हुए जीवन मे जहाँ ऐसी स्थिति हो, आगे चल कर वहा क्या आशा की जा सकती है ? अंगडाइया लेते यौवन के बदले गठरी की तरह लदा हुआ बुढापा आज जवानों मे दिखाई देता है।

[1] टिप्पणी— जैन सस्कृति ने आश्रम व्यवस्था को मान्य नही किया है और न आत्म-आराधना के लिए किसी विशिष्ट अवस्था का बन्धन ही स्वीकृत किया है। साधक का अन्तर्मानस जब जागृत होता है तब ही वह साधना के कठोर कटकाकीर्ण महामार्ग पर अपने मुस्तैदी कदम बढ़ा सकता है।

सच्चाई छिप नहीं सकती

इस कमी को पूरा करने के लिए पाउडर, क्रीम आदि प्रसाधन सामग्री का उपयोग किया जाता है, किन्तु वह सामग्री दूसरे दर्शक को धोखा नही दे सकती। धोखा देने का यत्न करने वाला स्वयं धोखा खाता है, आत्मवचना करता है और मिथ्या आश्वासन प्राप्त करना चाहता है। बहुमूल्य से बहुमूल्य आभूषण भी मुर्दे मे प्राणो का सचार नही कर सकते। निस्तेज शरीर को कितना ही चमकाने का प्रयत्न करो, उसमे नैसर्गिक दीप्ति का सहस्रवा भाग भी नही आ सकता। कदाचित् आ भी गया तो उससे क्या जीवनी शक्ति की वृद्धि हो सकेगी ? कदापि नही।

आवश्यकता इस बात की है कि जीवन-निर्माण काल में, अर्थात् कम से कम आयु के प्राथमिक चतुर्थांश मे मनुष्य सब प्रकार के विलासमय संपर्कों से पृथक् रह कर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे। तत्पश्चात् यदि ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन शक्य न हो और विवाहित जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ करे तो भी सद्गृहस्थ की धार्मिक मर्यादाओ का अवश्य पालन करे। इन मर्यादाओ मे दो मुख्य हैं—

पहली बात यह है कि—विधिवत् परिणीत पत्नी के अतिरिक्त अन्य समस्त रमणियो के प्रति माता-बहिन की भावना स्थापित करे। दुर्भावना के वश होकर उनके प्रति किसी प्रकार की कुचेष्टा न करे, उन पर कुदृष्टि न डाले।

दूसरी बात यह है कि—स्वस्त्री के प्रति भी अत्यासक्ति से बचे। इसका आशय यह नही कि पत्नी के प्रति प्रीति में कमी करे। प्रीति और आसक्ति के अन्तर को समझना चाहिए। आसक्ति में वासना का विष मिश्रित होता है, प्रीति मे निर्मल प्रेम की ही विमल धारा प्रवाहित होती है।

अत्यासक्ति का अर्थ है—पर्व आदि तिथियो मे ब्रह्मचर्य का पालन न करना, तथा अमर्यादित रूप से भ्रष्ट होकर और वीर्य का विनाश करके शरीर को खोखला कर डालना ।

इन दो मर्यादाओ का पालन करने के लिए जो नियम आवश्यक है, उनका भी ध्यान रखना चाहिए ।

सिनेमा और ब्रह्मचर्य

इस युग मे सिनेमा का जो नया संसार सर्जित हुआ है, वह इस चीज का ज्वलन्त उदाहरण है कि मनुष्य अपने स्वार्थ मे अन्धा होकर किसी प्रकार मगल को भी अमंगल के रूप मे परिणत कर सकता है। चित्रपटो द्वारा जनता को और विद्यार्थियो को जीवन निर्माण की सुशिक्षा दी जा सकती है, मगर आज किस प्रकार जहर के इजेक्शन दिये जा रहे है, यह किसी से छिपा नही है । आज के 'सिनेमा हाउस' वह अग्निकुण्ड बने हुए है जिनसे यमराज की विकराल जिह्वा के समान लपलपाती हुई प्रचण्ड अग्निज्वालाए घर-घर मे फैल कर सयम और सदाचार को समूल भस्म कर रही है । चित्रपटो के अश्लील वासनावर्धक दृश्य सुकुमारमति बालक-बालिकाओ और नव-युवक-नव युवतियो के चित्रपट पर अकित हो जाते है और गन्दे गीत उनके कण्ठ के आभरण बन रहे है । गलियो मे छोटे-छोटे बालको के मुख से जब प्रेम-गीत सुनाई देते है तो विचार आता है–भारत वर्ष की सयममयी सस्कृति को न जाने किस पाताल मे भेज देने का यह षडयन्त्र रचा गया है ! चित्रपट क्या है, मानो पश्चिम के स्वच्छंदाचार को भारतीय जीवन का अंग बनाने की कोई सुनियोजित योजना है। संयम और सभ्यता को विनष्ट करने की दुरभिसन्धि है ! पता नही, सरकार का सेंसर-बोर्ड सोया पडा रहता है या इसमे कोई गहरा रहस्य है !

कुछ भी हो अपने चित्त को निर्मल और निर्विकार रखने के अभिलाषी विवेक वान् पुरुषो और वहिनो को ऐसे चित्रपट देखने से बचना चाहिए और उन्हे ब्रह्मचर्य की साधना मे बाधक समझकर अपनी सन्तति को भी बचाना चाहिये।

अन्यत्र भी जहाँ कामवर्धक गीत गाये जाते हो, इस प्रकार का वार्त्तालाप होता हो अथवा जहाँ जाने से ब्रह्मचर्य-साधना मे विघ्न उपस्थित होता हो, वहाँ नही जाना चाहिए और पूर्ण ब्रह्मचर्य की पालना को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहिए।

जीवन समृद्धि का मूल मन्त्र

स्मरण रखना चाहिए कि ब्रह्मचर्य जीवन समृद्धि का प्रधान आधार है। ब्रह्मचर्य परमधर्म, परमशौच, परमतप और परमजप है। ब्रह्मचर्य के सद्भाव में ही सब साधनाएँ सफल होती है और ब्रह्मचर्य के अभाव में अन्य सब साधनाएँ निष्फल है। ब्रह्मचर्य वह पोतवाहन है जिसके सहारे यह विशाल ससारसागर पार किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य नीरोग, कान्तिमान्, दीर्घजीवी यशस्वी, ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी बनता है। जैसे हाथी के पैर मे सभी पैरो का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना मे सभी साधनाएँ समाविष्ट हो जाती है। ब्रह्मचर्य की साधना का पारलौकिक फल तो महान् होता ही है, इस जन्म मे भी उससे अपरिमित फलो की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचारी का यश इतना उज्ज्वल होता है कि अतीत का अन्धकार भी उस पर पर्दा नही डाल सकता। सीता और सुदर्शन जैसे गृहि-ब्रह्मचारियो की भी कीर्त्ति आज तक अक्षुण्ण है। पितामह भीष्म का नामस्मरण भी मानव के मन मे एक स्पृहणीय भावना जागृत कर देता है।

इन्द्रिय संयम

पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना मानव जीवन की चरम साधना है; क्योंकि इससे सहज शुद्ध परमात्मभाव की प्राप्ति होती है और आत्मा सदा के लिए कृत कृत्य हो जाता है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप में चर्या अर्थात् रमण करना। पर पदार्थों से पराङ्मुख होकर अपने ही स्वरूप में लीन होना पूर्ण ब्रह्मचर्य है और यही मुक्ति का साक्षात् कारण है। साधारणतया मैथुन त्याग ही ब्रह्मचर्य माना जाता है परन्तु ब्रह्मचर्य के सूक्ष्म और विशद स्वरूप पर विचार करने से विदित होता है कि समस्त इन्द्रियों की एवं मन की बहिर्मुख प्रवृत्ति का परित्याग करने से ही इस महान् व्रत में पूर्णता आती है। अन्य इन्द्रियों के संयम के बिना स्पर्शेन्द्रिय का पूर्ण संयम सम्भव नहीं है। इसलिए शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्यव्रत की नौ वाडों का वर्णन करते हुए जिह्वा और चक्षु आदि इन्द्रियों के संयम की आवश्यकता प्रतिपादित की है। ब्रह्मचर्य के साधक को उन्मादजनक, गरिष्ठ, कामवर्द्धक और अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिये। नेत्रों से रागजनक रूप नहीं देखने चाहिये और अन्य इन्द्रियों को भी सदा नियन्त्रित रखना चाहिये।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला समस्त लौकिक कल्याणों के साथ परम लोकोत्तर कल्याण का भी भागी होता है।

साधना का सौन्दर्य : अपरिग्रह

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो पवड्ढइ ।

—उत्तराध्ययन

अपरिग्रह अन्तिम व्रत है। अन्यान्य व्रतों के समान अधिकारी भेद से इसके भी दो रूप है—पूर्ण अपरिग्रह और देशत. अपरिग्रह, जिसे परिग्रहपरिमाण भी कहते है।

परिग्रह क्या ?

पर-पदार्थों में ममत्वबुद्धि स्थापित करना और उन्हें अपना मान कर संग्रह करना, परिग्रह है। इस प्रकार पर-पदार्थों का संचय भी परिग्रह है और संचय न होने पर भी उनके प्रति आसक्ति, ममता, तृष्णा या गृद्धि रखना भी परिग्रह है।

दु ख का मूल

ससार के समस्त प्राणी सुख के अभिलाषी होते हुए भी सुखप्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हुए भी सुखी नही है। जिधर देखते है, दु:ख ही दु ख दृष्टिगोचर होता है। तो देखना चाहिए कि आखिर दु:ख का मूल कहा है ? विचार करने पर विदित होगा कि दु.ख का मूल परिग्रह में ही है।

हम भलिभाति जानते है कि जीव जब पूर्वभव का परित्याग करके नवीन जन्म ग्रहण करने आता है तो पूवभव के वैभव मे से एक करण भी साथ नही लाता और जब वर्त्तमान जीवन का त्याग करके उत्तर भव ग्रहण करने के लिये जाता है, तब भी खाली हाथ जाता है। जिन्दगी भर आकुल-व्याकुल रह कर और तरह-तरह के पापो का सेवन करके वैभव का महल खडा किया, वह यही रह जाता है और छटपटाता हुआ उसका गर्वीला स्वामी अकेला ही जाता है। महल, मकान, दुकान, सोना, चादी आदि की बात तो दूर रही, उसका अपना शरीर भी साथ नही जाता। वह जा नही सकता, क्योकि वस्तुत उसका नही है। वास्तव मे जो जिसकी सम्पदा है, वह उससे कभी पृथक् नही हो सकती और जो वास्तव मे जिसका नही है, वह सदा उसके साथ नही रह सकता। इस कसौटी पर कसने से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान-दर्शन आदि निज गुणो के अतिरिक्त कोई भी भौतिक पदार्थ आत्मा का नही है। जैनाचाय भावपूर्ण शब्दो में उद्घोषणा करते है—

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्धं,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रै।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपा.,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीर मध्ये ॥

शरीर के साथ भी जिसकी एकता नही है, पुत्र, कलत्र और मित्र आदि स्पष्ट रूप से भिन्न दिखाई देने वाले पदार्थों के साथ उसकी एकता किस प्रकार हो सकती है। चमड़ी उतार देने के पश्चात् शरीर में रोमकूप कैसे ठहर सकते है?

और जब पुत्र कलत्र आदि जन भी आत्मा के नही धन, भवन और वसन आदि जड पदाथ आत्मीय हो सकते हैं, यह सम्भावना ही कैसे की जा सकती है?

सुख का सुधास्रोत

इस तथ्य को हृदयगम करके जो भद्र पुरुष समस्त परपदार्थों को आत्मभिन्न समझ लेता है, वह उनके संयोग मे सुख और वियोग मे दु ख का अनुभव नही करता। उसका उपयोग समभाव की प्रधानता है, वहाँ न तो वाह्य पदार्थों के प्रति लालसा, तृष्णा रहती है और न उन्हे उपलव्ध करने के लिए पापाचार किया जाता है। ऐसी स्थिति मे जगत् की कोई भी घटना या कोई भी वस्तु आत्मा मे क्षोभ नही उत्पन्न कर सकती। परिणामतः इसी जीवन मे अलौकिक आनन्द का सुधास्रोत प्रवाहित होने लगता है।

कामनाओं पर विजय

मानव मानता है कि सोने, चादी और जवाहरात से भरी यह तिजोरी मेरी है, गगनस्पर्शी यह हवेली मेरी है और चारो ओर विखरा हुआ यह वैभव मेरा है और इस पर मेरा अधिकार है। किन्तु एक क्षण आता है जव उसका अहंकार चूर-चूर हो जाता है, उसका स्वप्न भग हो जाता है और समग्र वैभव उसके अधिकार को चुनौती देता हुआ अपनी राह पकडता है। वैभव का अभिमानी स्वामी यह देख कर विलखता है, दीन वन जाता है, मगर वह वैभव उस पर तनिक भी करुणा नही करता।

तो असंदिग्ध है कि जागतिक पदार्थों में ममत्वबुद्धि स्थापित करना और उनकी कामना करना ही दु.ख का उद्गमस्थल है। श्रमण भगवान् महावीर ने दु.खो से छुटकारा पाने का एकमात्र और निश्चित उपाय यही वतलाया है—

कामे कमाही,
कमियं खु दुक्ख। दशवै अ २

हे साधक, अगर तू दुनिया के दुःखों से उद्विग्न हो गया है और उनसे बचना चाहता है, तो एक ही मार्ग है—कामनाओं पर विजय प्राप्त कर। कामनाओ पर विजय प्राप्त कर लेना, दुःखो पर विजय प्राप्त कर लेना है।

जिस प्रकार प्राप्त पदार्थो मे आसक्ति या ममता दुःख का कारण है, उसी प्रकार अप्राप्त पदार्थो की कामना भी अनर्थो का कारण है।

इच्छाओं का अन्त नहीं

जब तक मनुष्य परिवार बना कर बैठा है, तब तक उसे अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ भी रहती है। परिवार का परित्याग करके अनगारवृत्ति स्वीकार करने वाले साधक भी पूरी तरह आवश्यकताओ से परे नही हो पाते। आखिर भौतिक शरीर उनके साथ भी लगा है और भौतिक शरीर के निर्वाह के लिए भौतिक पदार्थो की आवश्यकता है। धर्मशास्त्र जीवननिर्वाह का निषेध नही करते। अतएव आवश्यकताएँ तो रहेगी ही, किन्तु कामना के निरकुश प्रसार से जो आवश्यकताएँ आवश्यकताओ का रूप ग्रहण कर लेती है, उनकी कोई सीमा नही होती। जीवन के लिये अनिवार्य साधनसामग्री अल्प ही अपेक्षित होती है और यदि जीवन सयत है तो और भी कम से काम चल सकता है। मगर कामना और तृष्णा मनुष्य के आगे झूठी आवश्यकताओ का जो अपार अम्बार खडा कर देती है, उससे बचते रहने की आवश्यकता है।

बहुत बडी कठिनाई तो यह है कि कामनाओ की न कही सीमा होती है न अन्त, एक कामना पूरी हुई या नही हुई कि तत्काल अनेक कामनाएँ प्रसूत हो जाती है। ज्यो-ज्यो लाभ होता है,त्यो-त्यो लोभ बढता जाता है। बल्कि असयत प्राणी को जो लाभ होता है, वही लोभ की

अभिवृद्धि का कारण बनता है। जब औषध ही रोगवृद्धि का कारण बन जाय तो रोग का अन्त कैसे सम्भव है ? भगवान् ने फर्माया है—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

उत्तराध्ययन

इच्छा आकाश की तरह अनन्त है। उसकी पूर्ति का प्रयत्न आगे-आगे भागने वाली प्रतिच्छाया को हस्तगत करने के समान निरर्थक सिद्ध होता है। अतएव कामनाओ को पुष्ट करने के बदले नष्ट करना चाहिए। यही अपरिग्रहव्रत का रहस्य है।

निर्लेप वृत्ति

अपरिग्रह का आराधक साधक बाह्य पदार्थों का उपभोग या उपयोग करता हुआ भी उनके प्रति ममतावान् नही होता। उसका अममताभाव शनैः शनै इस सीमा पर पहुँच जाता है कि शरीर, इन्द्रियो और प्राणो के प्रति भी उसे मोह नही रह जाता—

अवि अप्पणो वि देहम्मि,
नायरंति ममाइयं।

दशवैकालिक

देह देह है तो रहे। देह है तो उसके निर्वाह का साधन प्रस्तुत कर देंगे। न रहे तो चला जाय। जो वस्तु पराई है, उसके आने मे हर्ष क्या और जाने मे विषाद क्या ?

इस प्रकार की निर्लेपदशा प्राप्त हो जाने पर ही परमात्मावस्था प्रकट होती है।

उधर वहिरात्मा – अज्ञान जीव बाह्य पदार्थों को अपना मान कर उनके अर्जन और संरक्षण मे ही सलग्न रहता है। वह अर्जन के लिए

नाना प्रकार के कष्ट कर प्रयास करता है। अनेक प्रकार की पापपूर्ण आजीविकाएँ करता है। पाप-पुण्य की, नीति-अनीति की, धर्म-अधर्म की परवाह नही करता। उसका एक मात्र लक्ष्य भोगोपभोग की सामग्री को अधिकाधिक प्राप्त करना ही होता है। कदाचित् भाग्य ने साथ न दिया तो उसकी मनोवेदना का पार नही रहता और अपने जीवन को निस्सार, निस्सत्त्व और हीन समझने लगता है। दिन-रात व्याकुल रहता है और आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान मे ही काल यापन करता है। कदाचित् अनुकूल सयोग मिल गये और इच्छित पदार्थ प्राप्त हो गये तो उसका दु:ख दुगुना हो जाता है। प्रथम तो इच्छा आगे बढ जाती है और उसकी पूर्ति के लिए पहले के समान ही प्रयास चालू रहते है। दूसरे, उपार्जित पदार्थों के सरक्षण की नवीन चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। और जब उपार्जित द्रव्य विनष्ट हो जाता है तब तो कहना ही क्या! उसके शोक और उद्वेग की कोई सीमा ही नही रहती।

इस प्रकार तृष्णा और ममता वाला मनुष्य किसी भी स्थिति में सुख, शान्ति या सन्तोष प्राप्त नही कर पाता।

परिग्रह पाप का मूल

परिग्रह के लिए लोग हिंसा, झूठ, चोरी आदि अनेक पापो का आचरण करते है। अतएव परिग्रह सभी पापो का कारण है। ज्ञानियो ने इसे अनर्थ का मूल कहा है। किन्तु आश्चर्य होता है यह देख कर कि अपरिग्रह को धर्म मानने वाले और परिग्रह को पाप स्वीकार करने वाले समुदाय मे भी परिग्रही को पापी नही समझा जाता। जिस प्रकार हिंसक के प्रति घृणा व्यक्त की जाती है, मृषावादी को अनादर दृष्टि से देखा जाता है, चोरो-लुटेरो के प्रति हीन भाव प्रदर्शित किया जाता है और व्यभिचारी को घृणित समझा जाता है उसी प्रकार परिग्रही को पापी

नही किन्तु पुण्यात्मा आदरणीय समझा जाता है। कदाचित् हमारा त्यागीवर्ग भी उन्हे अधिक महत्त्व देता है। यह मनोदशा प्रकट करती है कि परिग्रह का पाप समाज की नस-नस मे व्याप गया है। उसने मानवीय मस्तिष्क और बुद्धि पर भी अधिकार कर लिया है। यही कारण है कि आज परिग्रह के लिए सभी प्रकार के पाप धडल्ले के साथ किये जा रहे है। किन्तु हम कुछ भी समझे और माने, सर्वज्ञ की वाणी कदापि अन्यथा होने वाली नही है। परिग्रह पाप ही है और इस जन्म मे तथा पर जन्म मे घोर दुःख, अशान्ति, चिन्ता, असन्तुष्टि, वेदना, व्यथा और सन्ताप उत्पन्न करने वाला है। जो इस सत्य को हृदय से स्वीकार करके परिग्रह से विरत होगा, वह परममगल का भाजन बनेगा। उसकी आत्मा मे परमात्मभाव की लोकोत्तर ज्योति जगमगा उठेगी।

परिशिष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त ग्रन्थो के नाम

(१)	विशेषावश्यक-भाष्य	.... जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण
(२)	द्रव्य लोक सग्रह	... विनय विजय
(३)	धर्म-संग्रह	.... मान विजय
(४)	श्रावक प्रज्ञप्ति	.... आचार्य उमास्वाति
(५)	तत्त्वार्थ-सूत्र	... आचार्य उमास्वाति
(६)	प्रवचन सारोद्धार	... नेमिचन्द्र सूरि
(७)	कर्म ग्रन्थ	... देवचन्द्रजी
(८)	आगमसार	... देवचन्द्रजी
(९)	लोक प्रकाश	.. विनय विजयजी
(१०)	अष्टाध्यायी-व्याकरण	... पाणिनि
(११)	सिद्धान्त कोमुदी	... भट्टोजी दीक्षित
(१२)	रत्नकरण्ड-श्रावकाचार	... आचार्य समन्तभद्र
(१३)	भगवद्गीता	... श्रीकृष्ण
(१४)	योगशास्त्र	.... आचार्य हेमचन्द्र
(१५)	सूरसागर	.... सूरदास
(१६)	रामचरितमानस	.... तुलसीदास
(१७)	महाभारत	... व्यास
(१८)	गुलिश्तां	... शेखसादी
(१९)	अर्थशास्त्र	... कौटिल्य
(२०)	प्रमाण-मीमांसा	... आचार्य हेमचन्द्र

(२१) वृहद् स्वयभू स्तोत्र ·· स्वामी समन्तभद्र
(२२) भागवत ·
(२३) गौतम कुलक ···
(२४) पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय आचार्य अमृतचन्द्र
(२५) महाप्रत्याख्यान प्रकरण
(२६) आचाराग
(२७) सूत्रकृताङ्ग
(२८) स्थानाङ्ग
(२९) भगवती
(३०) उपाशक दशाङ्ग
(३१) दशवैकालिक
(३२) उत्तराध्ययन
(३३) प्रज्ञापना
(३४) आवश्यक सूत्र
(३५) संथार पइन्ना ···
(३६) आलोचना पाठ ···
(३७) योग विन्दु · आचार्य हरिभद्र
(३८) उर्दू शायरी ··
(३९) परमात्म प्रकाश ···
(४०) नन्दी सूत्र ···
(४१) ज्ञातृधर्म कथा ···
(४२) विष्णु पुराण ···
(४३) श्रावकाचार ···
(४४) राजप्रश्नीय ···
(४५) पञ्चाशक ··· आचार्य हरिभद्र
(४६) पञ्चाध्यायी ···

(४७) जैन तर्क भाषा .... उपाध्याय यशोविजय
(४८) तत्त्वार्थ भाष्य ...
(४९) अध्यात्ममत परीक्षा ....
(५०) योगावतार द्वात्रिंशिका ...
(५१) प्रमाणनय तत्त्वालोक ... देवसूरि
(५२) आवश्यक निर्युक्ति ... आचार्य भद्रबाहु
(५३) सप्ततिस्थान प्रकरण ....
(५४) त्रिषष्टि शलाका पुरुष ... आचार्य हेमचन्द्र
(५५) आवश्यक-वृहद्वृत्ति ...

आभार

प्रस्तुत प्रकाशन मे जिन निम्न महानुभावो ने आर्थिक सहायता प्रदान कर अपनी साहित्यिक और साँस्कृतिक भावना का परिचय दिया उनका हम हृदय से स्वागत करते है —

५०१) श्रीमान् हस्तीमल जी सागर मल जी मेहता ३६, बिठलवाड़ी, बम्बई, २।

३००) एक सद्‌गृहस्थ सादडी द्वारा श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ उपाध्यक्ष अनोपचन्द पुनमिया।

२५०) श्रीमान बच्छराज जी अन्याव, बालोतरा (राजस्थान)